॥ नमः श्री वर्द्धमानाय ॥

प्रकाशकीय निवेदन

'श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिका' के 'देशव्रतोद्योतन' अधिकार पर परम पूज्य आत्मज्ञ संत श्री कानजीस्वामी ने अत्यन्त भाववाही प्रवचन किये इसलिये उनका हम हार्दिक अभिवादन करते हैं। उन प्रवचनोंका सुन्दर संकलन ब्र. हरिभाईने किया और वे गुजरातीमें पुस्तकाकार प्रकाशित हुये, उसका हिन्दी अनुवाद प्रगट करते हुये अत्यंत हर्ष होता है।

इस पुस्तकके अनुवादक श्री सोनचरणजी दि० जैनसमाज सनावदके एक सुप्रतिष्ठित व्यक्ति तथा अध्यात्मरसिक, सरल और गम्भीर महानुभाव हैं। सोनगढ़ साहित्यके प्रति उनकी विशेष रुचि है। सनावदकी अनेक संस्थाओंके वे सदस्य हैं और कपड़ेके व्यापारी भी हैं।

दूसरे अनुवादक श्री प्रेमचंदजी जैन M. Com. हैं, और सनावदके श्री मयाचंद दिगम्बर जैन उच्चतर विद्यालयमें व्याख्याता हैं। वे भी सोनगढ़ साहित्यके प्रति विशेष प्रेम रखते हैं।

उपरोक्त दोनों महानुभावोंने इस हिन्दी अनुवादको अत्यन्त उल्लासपूर्वक और बिलकुल निस्पृहभावसे तैयार कर दिया है। इसलिये उनको धन्यवाद देनेके साथ उनका उपकार मानते हैं।

अनुवादका संशोधन-कार्य श्री पं० मूलचन्दजी शास्त्री सनावद तथा श्री पं० वंशीधरजी शास्त्री M. A. कलकत्ता वालोंने कर दिया है। तथा जतीशचन्द्रजी सनावद वालोंने प्रकाशनके सम्बन्धमें अनेक प्रकारसे सहायता की है इसलिये उनका अन्तःकरण पूर्वक आभार मानते हैं।

जैनेन्द्र प्रेस ललितपुर के मालिक श्री पं० परमेष्ठीदासजी जैनने इस पुस्तकका मुद्रणकार्य सुन्दर ढंगसे कर दिया है अतः उनका आभार मानते हैं।

इन प्रवचनोंमें श्रावकके कर्तव्यका जो स्वरूप अत्यन्त स्पष्टरूपसे पूज्य गुरुदेवने दर्शाया है उसका अनुसरण करनेके लिये हम सब निरन्तर प्रयत्नशील रहें....यही भावना।

साहित्य प्रकाशन समिति,
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

वीर सं० २५०२

अनुक्रमणिका

श्रावकधर्मप्रकाश

है। पूर्वमें दो बार (वीर सं० २४७४ तथा २४८१ में) इस अधिकार पर प्रवचन हो चुके हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजीको यह शास्त्र बहुत प्रिय था। उन्होंने इस शास्त्रको "वनशास्त्र" कहा है, और इन्द्रियनिग्रहपूर्वक उसके अभ्यासका फल अमृत है-ऐसा कहा है।

"देश-व्रतोद्योतन" अर्थात् गृहस्थदशामें रहने वाले श्रावकके धर्मका प्रकाश कैसे हो, उसका इसमें वर्णन है। गृहस्थदशामें भी धर्म हो सकता है। सम्यग्दर्शन सहित शुद्धि किस प्रकार बढ़ती है और राग किस प्रकार टलता है, और श्रावक भी धर्मकी आराधना करके परमात्मदशाके सन्मुख किस प्रकार जाये, यह बतलाकर इस अधिकारमें श्रावकके धर्मका उद्योत किया गया है। समन्तभद्रस्वामीने भी रत्नकरंड-श्रावकाचारमें श्रावकके धर्मोंका वर्णन किया है, वहाँ धर्मके ईश्वर तीर्थंकर भगवन्तोंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको धर्म कहा है—(**सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वराविदुः**) उसमें सबसे पहले ही सम्यग्दर्शन धर्मका वर्णन किया गया है, और उसका कारण सर्वज्ञकी श्रद्धा बताई गई है। यहां भी पद्मनन्दी मुनिराज श्रावकके धर्मोंका वर्णन करते समय सबसे पहले सर्वज्ञदेवकी पहिचान कराते हैं। जिसे सर्वज्ञकी श्रद्धा नहीं, जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, उसे तो मुनिका अथवा श्रावकका कोई धर्म नहीं होता। धर्मके जितने प्रकार हैं उनका मूल तो सम्यग्दर्शन है। अतः जिज्ञासुको सर्वज्ञकी पहिचान पूर्वक सम्यग्दर्शनका उद्यम तो सबसे पहले होना चाहिये। उस भूमिकामें भी रागकी मन्दता इत्यादिके प्रकार किस प्रकार होते हैं, वे भी इसमें बताये गये हैं। निश्चय-व्यवहारकी संधि सहित सरस बात की गई है। सबसे पहले सर्वज्ञकी और सर्वज्ञके कहे हुये धर्मकी पहिचान करनेके लिये कहा गया है।

साधनसे अथवा रागके अवलंबनसे कोई सर्वज्ञता नहीं प्रगटती। मोक्षमार्ग प्रकाशकके मंगलाचरणमें भी अरिहन्तदेवको नमस्कार करते समय पं० श्री टोडरमलजी ने कहा है कि—"जो गृहस्थपना छोड़कर, मुनिधर्म अंगीकार कर, निज-स्वभाव साधनसे चार घातिकर्मोंका क्षय कर अनंतचतुष्टयरूप विराजमान हुये हैं...ऐसे श्री अरिहन्तदेवको हमारा नमस्कार हो।" मुनिधर्म कैसा ? कि शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म, उसे अंगीकार करके, भगवानने निज-स्वभाव साधनसे कर्मोंका क्षय किया; कोई बाह्य साधनसे अथवा रागके साधनसे नहीं, परन्तु उन्होंने निश्चयरत्नत्रयरूप निजस्वभाव के साधनसे ही कर्मोंका क्षय किया है। इससे विपरीत साधन माने तो उसने भगवानका मार्ग नहीं जाना, भगवानको नहीं पहिचाना। भगवानको पहिचानकर नमस्कार करे तब सच्चा नमस्कार कहलाये।

यहां प्रथम ही कहा गया है कि बाह्य-अभ्यन्तर संगको छोड़कर शुक्लध्यानसे प्रभुने केवलज्ञान पाया; अर्थात् कोई जीव घरमें रह करके बाहरमें वस्त्रादिकका संग रख करके केवलज्ञान पा जावे ऐसा नहीं बनता। अंतरंगके संगमें मिथ्यात्वादि मोहको छोड़े बिना मुनिदशा या केवलज्ञान नहीं होता।

मुनिके महाव्रतादिका राग केवलज्ञानका साधन नहीं है, परन्तु उनको शुद्धोपयोग-रूप निजस्वभाव ही केवलज्ञानका साधन है, उसे ही मुनिधर्म कहा गया है। यहाँ उत्कृष्ट बात बतानेका प्रयोजन होनेसे शुक्लध्यानकी बात ली गई है। शुक्लध्यान शुद्धोपयोगी मुनिको ही होता है। केवलज्ञानका साधनरूप यह मुनिधर्म मूल सम्यग्दर्शन है, और वह सम्यग्दर्शन सर्वज्ञदेवकी तथा उनके वचनोंकी पहिचानपूर्वक होता है; इसलिये यहाँ श्रावकधर्मके वर्णनमें सबसे पहिले ही सर्वज्ञदेवकी पहिचान की बात ली गई है।

आत्माका भान करके, मुनिदशा प्रगट करके, शुद्धोपयोगकी उग्र श्रेणी मांड करके जो सर्वज्ञ हुये उन सर्वज्ञ परमात्माके वचन ही सत्यधर्मका निरूपण करने वाले हैं; ऐसे सर्वज्ञको पहिचाननेसे आत्माके ज्ञानस्वभावकी प्रतीति होती है और तब धर्मका प्रारम्भ होता है। जो सर्वज्ञकी प्रतीति नहीं करता उसे आत्माकी ही प्रतीति नहीं, धर्मकी ही प्रतीति नहीं, उसे तो शास्त्रकार "महापापी अथवा अभव्य" कहते हैं। उसमें धर्म समझनेकी योग्यता नहीं, इसलिये उसे अभव्य कहा गया है। जिसे सर्वज्ञके स्वरूपमें संदेह है, सर्वज्ञकी वाणीमें जिसे संदेह है,

अन्तरंगमें शुद्धोपयोगरूप आचरण द्वारा अशुद्धता और उसके निमित्त छूट गये हैं। शुद्धोपयोगकी धारारूप जो शुक्लध्यान, उसके द्वारा स्वरूपको ध्येयमें लेकर पर्यायको उसमें लीन होनेका नाम ध्यान है। उसके द्वारा घाति कर्मोंका नाश होकर केवलज्ञान हुआ है। देखो, पहिले पर्यायमें अशुद्धता थी, ज्ञान-दर्शन अपूर्ण थे, मोह था, इसलिये घातिया कर्मोंके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध था, और अब शुद्धता होनेसे, अशुद्धता दूर होनेसे कर्मोंके साथका सम्बन्ध छूट गया, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य परिपूर्ण रूपसे प्रगट हो गये और कर्मोंका नाश हो गया।-किस उपायसे ? शुद्धोपयोगरूप धर्म द्वारा।-इस प्रकार इसमें ये तत्त्व आ जाते हैं—बन्ध, मोक्ष और मोक्षमार्ग। जो सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुये ऐसे तत्त्वोंका स्वरूप समझे, उसे ही श्रावकधर्म प्रगट होता है।

धर्मका कथन करनेमें सर्वज्ञदेवके वचन ही सत्य हैं, अन्यके नहीं। सर्वज्ञको माने बिना कोई कहे कि मैं स्वयमेव जानकर धर्म कहता हूँ—तो उसकी बात सच्ची नहीं होती। और सर्वज्ञ-अरहन्तदेवके सिवा अन्य मत भी एक समान हैं—ऐसा जो माने उसे भी धर्मके स्वरूपकी खबर नहीं। जैन और अजैन सब धर्मोंको समान माननेवालेको तो व्यवहार-श्रावकपना भी नहीं। इसलिये श्रावक-धर्मके वर्णनके प्रारम्भमें ही स्पष्ट कहा है कि सर्वज्ञके वचन द्वारा कहा हुआ धर्म ही सत्य है और अन्य धर्म सत्य नहीं, ऐसी प्रतीति श्रावकको पहले ही होना चाहिये।

अहा, सर्वज्ञ ! ये तो जैनधर्मके देव हैं। देवके स्वरूपको भी जो न पहिचाने उसे धर्म कैसा ? तीनलोक और तीनकालके समस्त द्रव्य-गुण-पर्यायोंको वर्तमानमें सर्वज्ञदेव प्रत्येक समयमें स्पष्ट जानते हैं, ऐसी बात भी जिसे नहीं रुचती उसे तो सर्वज्ञदेवकी या मोक्षतत्त्वकी प्रतीति नहीं, और आत्माके पूर्ण ज्ञानस्वभावकी भी उसे खबर नहीं। श्रावक धर्मात्मा तो भ्रान्तिरहित सर्वज्ञदेवका स्वरूप जानता है और ऐसा ही निजस्वरूप साधता है। जैसे लेंडीपीपरके प्रत्येक दानेमें चौंसठपुटी चरपराहट भरी है वही व्यक्त होती है, उसी प्रकार जगतके अनन्त जीवोंमेंसे प्रत्येक जीवमें सर्वज्ञताकी शक्ति भरी है, उसका ज्ञान करके उसमें एकाग्र होनेसे वह प्रगट होती है। देहसे भिन्न, कर्मसे भिन्न, रागसे भिन्न और अल्पज्ञतासे भी भिन्न परिपूर्ण ज्ञ-स्वभावी आत्मा जैसा भगवानने देखा और स्वयं प्रगट किया वैसा ही वाणीमें कहा है। वैसी आत्माकी और उसके कहनेवाले सर्वज्ञकी प्रतीति करने वाले यहाँ रागादिकी रुचि नहीं रहती; संयोग, विकार या अल्पज्ञताकी रुचि

नहीं होते। अन्तरमें देखनेवाला अन्तरात्मा है और बाहरसे माननेवाला बहिरात्मा है।

जैसे आमकी गुठलीमेंसे आम और बबूलमेंसे बबूल फलता है, उसी प्रकार आत्म-प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शनमेंसे तो मोक्षके आम फलते हैं; और मिथ्यात्वरूप बबूलमेंसे बबूल जैसी संसारकी चार गति फूटती हैं। शुद्धस्वभावमेंसे संसरण करके (बाहर निकलके) विकारभावमें परिणमित होना संसार है। शुद्धस्वभावके आश्रयसे विकारका अभाव और पूर्णानन्दकी प्राप्ति मोक्ष है। इस प्रकार आत्माका संसार और मोक्ष सभी स्वयंमें ही समाविष्ट है, उसका कारण भी स्वयंमें ही है। बाहरकी अन्य वस्तु कोई आत्माके संसार-मोक्षका कारण नहीं है।

जो आत्मा का पूर्ण अस्तित्व माने, संसार और मोक्षको माने, चार गति माने, चारों गतियोंमें दुःख लगे और उससे छूटना चाहे—ऐसे आस्तिक जिज्ञासु जीवकी यह बात है। जगतमें भिन्न-भिन्न अनन्त आत्माएँ अनादि-अनन्त हैं। आत्मा अभी तक कहाँ रहा ? कि आत्मभानके बिना संसारकी भिन्न-भिन्न गतियोंमें भिन्न शरीर धारण करके दुःखी हुआ। अब उनसे कैसा छूटा जाय और मोक्ष कैसे प्राप्त हो उसकी यह बात है। अरे जीव ! अज्ञानसे इस संसारमें तूने जो दुःख भोगे उनकी क्या बात ? उसमें सत्समागम सत्य समझनेका यह उत्तम अवसर आया है, ऐसे समय जो आत्माकी दरकार करके सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं करे तो समुद्रमें डाल दिये रत्नकी तरह इस भवसमुद्रमें तेरा कहीं ठिकाना नहीं लगेगा, पुनः पुनः ऐसा उत्तम अवसर हाथ नहीं आता। अतः सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति महा दुर्लभ जानकर उसका परम उद्यम कर।

यहाँ तो सम्यग्दर्शनके पश्चात् श्रावकके व्रतका प्रकाशन करना है; परन्तु उसके पूर्व यह बताया है कि व्रतकी भूमिका सम्यक्त्व है; सम्यग्दृष्टिको राग करनेकी बुद्धि नहीं, राग द्वारा मोक्षमार्ग सधेगा ऐसा वह नहीं मानता; उसे भूमिका अनुसार रागके त्यागरूप व्रत होते हैं। व्रतमें जो शुभराग रहा उसे वह श्रद्धामें आदरणीय नहीं मानता। चैतन्यस्वरूपमें थोड़ी एकाग्रता होते ही अनन्तानुबन्धी कषाय पश्चात् अप्रत्याख्यान सम्बन्धी कषायोंका अभाव होकर पंचम गुणस्थानके योग्य जो शुद्धि हुई वह सच्चा धर्म है। चौथे गुणस्थानवर्ती सर्वार्थसिद्धिके देवकी अपेक्षा पाँचवें गुणस्थान वाले श्रावकको आत्माका आनन्द विशेष है;—पश्चात् भले ही वह मनुष्य हो या तिर्यंच। उत्तम पुरुषोंको सम्यग्दर्शन प्रगट कर मुनिके महाव्रत या श्रावकके देशव्रतका पालन करना चाहिये। रागमें किसी प्रकार एकत्वबुद्धि नहीं हो और शुद्ध स्वभावकी दृष्टि नहीं छूटे—इस प्रकार सम्यग्दर्शनके निरन्तर पालनपूर्वक धर्मका उपदेश है।

अरे जीव ! इस तीव्र संक्लेशसे भरे संसारमें भ्रमण करते हुए सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अति दुर्लभ है। जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया उसने आत्मामें मोक्षका वृक्ष बोया है। इसलिये सर्व उद्यमसे सम्यग्दर्शनका सेवन कर।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके पश्चात् क्या करना वह अब चौथे श्लोकमें करते हैं—

जीवनकी सफलता

अरे, जगतके जीव अपने चैतन्यसुखको भूलकर विषय-कषायमें सुख मान रहे हैं, परन्तु अपना जो चैतन्य सुख है उसकी सुरक्षाका अवकाश नहीं लेते; उनका जीवन तो विषयोंमें नष्ट हो जायेगा और व्यर्थ चला जायेगा। विषयोंसे विरक्त होकर आत्मिक सुखके अभ्यासमें जो जीवन बीतता है वही सफल है।

सम्यक्त्वपूर्वक व्रतका उपदेश

[४]

हे भाई ! आत्माको भूलकर भवमें भटकते अनन्तकाल बीत गया, उसमें अति मूल्यवान यह मनुष्य अवतार और धर्मका ऐसा दुर्लभयोग तुझे प्राप्त हुआ है, तो अब परमात्मा जैसा ही तेरा जो स्वभाव है उसे दृष्टिमें लेकर मोक्षका साधन कर, प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व प्रगट कर, शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्मकी उपासना कर, और यदि इतना न बन सके तो श्रावकधर्मका जरूर पालन कर ।

卐

सम्प्राप्तेऽत्रभवे कथं कथमपि द्राघीयसाऽनेहसा ।
मानुष्ये शुचिदर्शने च महता कार्यं तपो मोक्षदम् ॥
नो चेत्लोकनिषेधतोऽथ महतो मोहादशक्तेरथ ।
सम्पद्येत न तत्तदा गृहवतां षट्कर्मयोग्य व्रतं ॥ ४ ॥

अनादिकालसे इस संसारमें भ्रमण करते हुए जीवको मनुष्यपना प्राप्त होना कठिन है । और उसमें भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति अति दुर्लभ है । इस भवमें भ्रमण करते-करते दीर्घकालमें ऐसा मनुष्यपना और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके उत्तम पुरुषोंको तो मोक्षदायक ऐसा तप करना योग्य है अर्थात् मुनिदशा प्रगट करना योग्य है; और जो लोकके निषेधसे, मोहकी तीव्रतासे और निजकी अशक्तिसे मुनिपना नहीं लिया जासके तो गृहस्थके योग्य देवपूजा आदि षट्कर्म तथा व्रतोंका पालन करना चाहिये ।

मुनिराज कहते हैं कि हे भव्य ! ऐसा दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त कर आत्महितके लिये तू मुनिधर्म अंगीकार कर, और जो तुझसे इतना न हो सके तो श्रावकधर्मका तो अवश्य पालन कर । परन्तु दोनों सम्यग्दर्शन सहित होनेकी बात है । मुनिधर्म या श्रावकधर्म दोनोंके मूलमें सम्यग्दर्शन और सर्वज्ञकी पहिचान सहित आगे बढ़नेकी बात है । जिसे यह सम्यग्दर्शन न हो सके तो प्रथम उसका उद्यम करना चाहिये ।—यह बात तो प्रथम तीन गाथाओंमें बता आये हैं; उसके पश्चात् आगेकी भूमिकाकी यह बात है ।

सम्यग्दृष्टिकी भावना तो मुनिपनेकी ही होती है; अहो ! कब चैतन्यमें लीन होकर सर्व संगका परित्यागी होकर मुनिमार्गमें विचरण करूँ ? शुद्धरत्नत्रयस्वरूप जो उत्कृष्ट मोक्षमार्ग उस रूप कब परिणमित होऊँ ?

अपूर्व अवसर अेवो क्यारे आवशे !
क्यारे थइशुं बाह्यान्तर निर्ग्रंथ जो,
सर्वसंबंधनुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने,
विचरशुं कब महत्पुरुषने पंथ जो ।

तीर्थंकर और अरिहंत मुनि होकर चैतन्यके जिस मार्ग पर विचरे उस मार्ग पर विचरण करूँ ऐसा धन्य स्वकाल कब आवेगा ! इस प्रकार आत्माके भानपूर्वक धर्मी जीव भावना भाते हैं । ऐसी भावना होते हुए भी निजशक्तिकी मंदतासे और निमित्त-रूपसे चारित्रमोहकी तीव्रतासे तथा कुटुम्बीजनों आदिके आग्रहवश होकर स्वयं ऐसा मुनिपद ग्रहण नहीं कर सके तो वह धर्मात्मा गृहस्थपनेमें रहकर श्रावकके धर्मका पालन करे—ऐसा यहां बतलाया है ।

श्री पद्मनन्दीस्वामीने श्रावकके छह कर्तव्य बतलाये हैं—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिनेदिने ॥७॥

(पद्मनंदी-उपासक संस्कार)

भगवान जिनेन्द्रदेवकी पूजा, निर्ग्रन्थ गुरुओंकी उपासना, वीतरागी जैनशास्त्रोंका स्वाध्याय; संयम, तप और दान—ये छह कार्य गृहस्थ श्रावकको प्रतिदिन करने योग्य हैं । मुनिपना न हो सके तो दृष्टिकी शुद्धता पूर्वक इन छह कर्त्तव्यों द्वारा श्रावकधर्मका पालन तो अवश्य करना चाहिए ।

भाई, ऐसा अमूल्य मनुष्य-जीवन प्राप्त कर यों ही चला जावे,-उसमें तू सर्वज्ञदेव-की पहिचान न करे, सम्यग्दर्शनका सेवन न करे, शास्त्रस्वाध्याय न करे, धर्मात्माकी सेवा न करे और कषायोंकी मन्दता न करे तो इस जीवनमें तूने क्या किया ? आत्माको भूलकर संसारमें भटकते अनन्तकाल बीत गया; उसमें महा मूल्यवान यह मनुष्यभव और धर्मका ऐसा दुर्लभ योग मिला, तो अब परमात्माके समान जो तेरा स्वभाव उसे दृष्टिमें लेकर मोक्षका साधन कर । यह शरीर और संयोग तो क्षणभंगुर हैं, उनमें तो कहीं

सुखकी छाया भी नहीं है। मुनियोंमें पूर्ण सुख [illegible] मुनिवर हैं—जो आनन्दकी ऊर्मिपूर्वक सर्वज्ञपदको साध रहे हैं और [illegible] सम्यग्-दृष्टि धर्मात्मा हैं—जिन्होंने चैतन्यके परम आनन्दस्वभावको प्रतीतिमें लिया है और उसका स्वाद चखा है। ऐसे सुखका अभिलाषी जीव प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करके मुनि-धर्म, या श्रावकधर्मका पालन करता है, उसका यह उपदेश है।

संसार-परिभ्रमणमें जीवको प्रथम तो निगोदादि एकेन्द्रियमेंसे निकलकर त्रसपना पाना बहुत दुर्लभ है, त्रसपनामें भी पंचेन्द्रियपना और मनुष्यपना प्राप्त करना अति दुर्लभ है; दुर्लभ होते हुए भी जीव अनन्तबार उसे प्राप्त कर चुका है परन्तु सम्यग्दर्शन उसने कभी प्राप्त नहीं किया। इसलिये मुनिराज कहते हैं कि हे भव्य जीव! ऐसे दुर्लभ मनुष्यपनेमें तू सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति करके शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्मकी आराधना कर; और इतना न बन सके तो श्रावकधर्मका पालन अवश्य कर।

देखो; यहाँ यह भी कहा कि जो मुनिपना न हो सके तो श्रावकधर्म पालना, परन्तु मुनिपनेका स्वरूप अन्यथा नहीं मानना। शुद्धोपयोगके बिना मात्र रागको या वस्त्रके त्यागको मुनिपना मान ले तो वह श्रद्धा भी सच्ची नहीं रहती अर्थात् उसे तो श्रावकधर्म भी नहीं होता। चाहे कदाचित् मुनिपना न ले सके परन्तु अन्तरंगमें उस स्वरूपकी प्रतीति बराबर प्रज्वलित रखे तो सम्यग्दर्शन टिका रहेगा; इसलिये उससे विशेष न हो सके तो जितना हो सके उतना ही करना। श्रद्धा सच्ची होगी तो उसके बलसे मोक्षमार्ग टिका रहेगा। श्रद्धामें ही गड़बड़ी करेगा तो मोक्षमार्ग भ्रष्ट हो जायेगा।

सम्यग्दर्शनके द्वारा जिन्होंने शुद्धात्माको प्रतीतिमें लिया; उसमें उग्र लीनतासे शुद्धोपयोग प्रगट हो और प्रचुर आनन्दका संवेदन अन्तरमें हो रहा हो, बाह्यमें वस्त्रादि परिग्रह छूट गया हो—ऐसी मुनिदशा है। अहो, इसमें तो बहुत वीतरागता है, यह तो परमेष्ठी पद है। कुन्दकुन्दस्वामी स्वयं ऐसी मुनिदशामें थे, उन्होंने प्रवचनसारके मंगला-चरणमें पंचपरमेष्ठी भगवन्तोंको वन्दन किया है, उन्होंने उसमें कहा है कि "जिन्होंने परम शुद्ध उपयोग भूमिकाको प्राप्त किया है ऐसे साधुओंको प्रणाम करता हूँ" शुद्धोप-योगका नाम चारित्रदशा है, मोह और क्षोभ बिना जो आत्मपरिणाम वह चारित्रधर्म है, वही मुनिपना है। मुनिमार्ग क्या है? उसकी जगत्को खबर नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य जिस पदको नमस्कार करें—वह मुनिपद कैसा? यहाँ 'णमो लोए सव्व साहूणम्" ऐसा कहकर पंचपरमेष्ठी पदमें उन्हें नमस्कार किया जाता है—इस साधुपदकी महिमाकी क्या बात!! यह तो मोक्षका साक्षात् कारण है।

यहाँ कहते हैं कि हे जीव ! मोक्षका साक्षात् कारण शुद्ध चारित्रको तू अंगीकार कर सम्यग्दर्शन पश्चात् ऐसी चारित्रदशा प्रगट कर। चारित्रदशा विना मोक्ष नहीं है। क्षायिक सम्यक्त्व और तीन ज्ञान सहित ऐसे तीर्थंकर भी जब शुद्धोपयोगरूप चारित्रदशा प्रगट करते हैं तभी मुनिपना और केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। इसलिये सम्यग्दर्शन प्राप्त करके ऐसी चारित्रदशा प्रगट करना ही उत्तम मार्ग है। परन्तु लोक निषेधसे और स्वयंके परिणाममें उस प्रकारकी शिथिलतासे जो चारित्रदशा न ली जा सके तो श्रावकके योग्य व्रतादि करे। दिगम्बर मुनिदशा पालनेमें तो वहुत वीतरागता है; परिणामोंकी शक्ति न देखे और ज्यों त्यों मुनिपना ले ले और पीछे पालन न कर सके तो उल्टे मुनिमार्ग की निन्दा होती है इसलिये अपने शुद्धपरिणामकी शक्ति देखकर मुनिपना लेना। शक्तिकी मन्दता हो तो मुनिपनेकी भावनापूर्वक श्रावकधर्मका आचरण करना। परन्तु उसके मूलमें सम्यग्दर्शन तो पहले होता ही है, उसमें कमजोरी नहीं चलती। सम्यक्त्वमें थोड़ा या अधिक ऐसा भेद पड़ता है।

भूतार्थके आश्रित श्रावकको दो कषायोंके अभाव जितनी शुद्धि है और मुनिको तीन कषायोंके अभाव जितनी शुद्धि है; जितनी शुद्धता उतना निश्चयधर्म है; स्वरूपा-चरणरूप स्वसमय है और उतना मोक्षमार्ग है; और उस भूमिकामें देव-पूजा आदिका या पंचमहाव्रतादिका जो शुभराग है वह व्यवहारधर्म है, वह मोक्षका कारण नहीं है परन्तु पुण्यास्रवका कारण है।—इस प्रकार शुद्धता और रागके मध्यका भेद पहचानना चाहिये। सम्यक्त्वरूप भावशुद्धिके विना मात्र शुभ या अशुभभाव तो अनादिसे सब जीवोंमें हुआ ही करते हैं; उस अकेले शुभको वास्तविक व्यवहार नहीं कहते। निश्चय विना व्यवहार कैसा ? निश्चयपूर्वक जो शुभरागरूप व्यवहार है वह भी कोई वास्तविक धर्म नहीं है; तो फिर निश्चय विना अकेले शुभरागकी क्या वात ?—वह तो वास्तवमें व्यवहारधर्म भी नहीं कहलाता।

सम्यग्दर्शन होते शुद्धता प्रगट होती है और धर्म प्रगट होता है। धर्मीको रागमें एकत्वबुद्धि न होते हुए भी देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रस्वाध्याय आदि सम्बन्धी शुभराग उसे होता है; वह उस रागका कर्ता है—ऐसा भी व्यवहारमें कहा जाता है, और उसे व्यवहारधर्म कहा जाता है; निश्चयधर्म तो अन्तरंगमें भूतार्थस्वभावके आश्रयसे शुद्धि प्रगट हुई वही है। अरे, वीतरागमार्गकी अगम्य लीला रागके द्वारा ज्ञानमें नहीं आती, क्या रागमें स्थित रहकर तुझे वीतरागमार्गकी साधना करना है ? राग द्वारा वीतराग-मार्गका साधन कभी नहीं हो सकता। राग द्वारा धर्म माने ऐसे जीवकी तो यहाँ चर्चा

नहीं है। यहाँ तो जिसने भूतार्थस्वभावकी दृष्टिसे सम्यग्दर्शन प्रगट किया है उसे आगे बढ़ते मुनिधर्म या श्रावकधर्मका पालन किस प्रकार होता है उसकी चर्चा है।

सम्यग्दर्शन हुआ उसी समय स्वसंवेदनमें अतीन्द्रिय आनन्दका स्वाद तो आया है, तत्पश्चात् मुनिपनेमें तो उस अतीन्द्रिय आनन्दका प्रचुर स्वसंवेदन होता है। अहा! मुनियों को तो शुद्धात्माके स्वसंवेदनमें आनन्दकी प्रचुरता है। समयसारकी पाँचवीं गाथामें अपने निजवैभवका वर्णन करते श्री आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी कहते हैं कि "अनवरत झरते हुए सुन्दर आनन्दकी मुद्रावाला जो तीव्र संवेदन उस रूप स्वसंवेदनसे हमारा निजवैभव प्रगट हुआ है। स्वयंको निःशंक अनुभवमें आता है कि ऐसा आत्मवैभव प्रगट हुआ है। देखो, यह मुनिदशा! मुनिपना यह तो संवरतत्त्वकी उत्कृष्टता है। जिसे ऐसी मुनिदशाकी पहचान नहीं उसे संवरतत्त्वकी पहचान नहीं; दिगम्बरपना हुआ या पंचमहाव्रत का शुभराग हुआ-उसे ही मुनिपना मान लेना वह कोई सच्चा नहीं है; और वस्त्रसहित दशामें मुनिपना माने उसे तो गृहीत मिथ्यात्व भी छूटा नहीं; मुनिदशाके योग्य परम संवरकी भूमिकामें तीव्र रागके किस प्रकारके निमित्त छूट जाते हैं उसकी भी उसे खबर नहीं; अर्थात् उस भूमिकाकी शुद्धताको भी उसने नहीं जानी है। वस्त्ररहित हुआ हो, पंचमहाव्रत दोपरहित पालता हो, परन्तु जो अन्तरंगमें तीन कपायके अभावरूप शुद्धोपयोग नहीं तो उसे भी मुनिपना नहीं है। मुनिमार्ग तो अलौकिक है। महाविदेहक्षेत्रमें वर्तमानमें सीमंधर परमात्मा साक्षात् तीर्थंकररूपमें विराज रहे हैं, वे ऐसा ही मार्ग प्रकाशित कर रहे हैं। ऐसे अनन्त तीर्थंकर हुए, लाखों सर्वज्ञ भगवान वर्तमानमें उस क्षेत्रमें विचर रहे हैं और भविष्यमें अनन्त होंगे, उन्होंने वाणीमें मुनिपनेका एक ही मार्ग बतलाया है। यहाँ कहते हैं कि हे जीव! ऐसा मुनिपना अंगीकार करने योग्य है; जो उसे अंगीकार न कर सके तो उसकी श्रद्धा करके श्रावकधर्मको पालना।
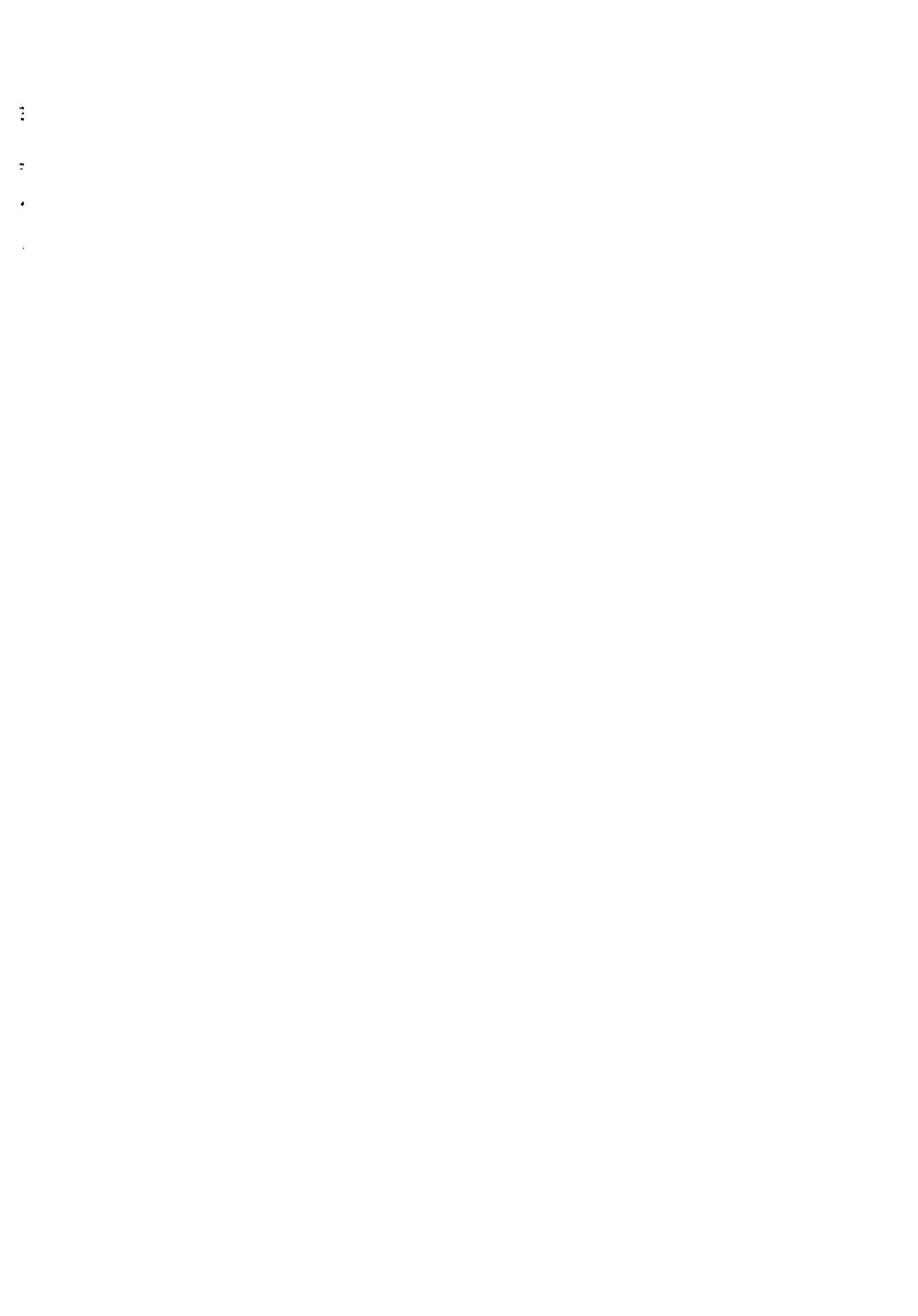
श्रावकको क्या करना चाहिए?

श्रावक प्रथम तो हमेशा देव पूजा करे। देव अर्थात् सर्वज्ञदेव, उनका स्वरूप पहचानकर उनके प्रति बहुमानपूर्वक रोज रोज दर्शन-पूजन करे। पहले ही सर्वज्ञकी पहचानकी बात कही थी। स्वयंने सर्वज्ञको पहचान लिया है और स्वयं सर्वज्ञ होना चाहता है वहाँ निमित्तरूपमें सर्वज्ञताको प्राप्त अरहंत भगवानके पूजन-बहुमानका उत्साह धर्मीको आता है। जिनमंदिर बनवाना, उसमें जिनप्रतिमा स्थापन करवाना, उनकी पंच-कल्याणक पूजा-अभिषेक आदि उत्सव करना, ऐसे कार्योंका उल्लास श्रावकको आता है—ऐसी उसकी भूमिका है, इसलिये उसे श्रावकका कर्तव्य कहा है। जो उसका निषेध

करे तो मिथ्यात्व है। और मात्र इतने शुभरागको ही धर्म समझे तो उसको भी सच्चा श्रावकपना नहीं होता—ऐसा जानो। सच्चे श्रावकको तो प्रत्येक क्षण पूर्ण शुद्धात्माका श्रद्धानरूप सम्यक्त्व वर्तता है, और उसके आधारसे जितनी शुद्धता प्रगट हुई उसे ही धर्म जानता है। ऐसी दृष्टिपूर्वक वह देवपूजा आदि कार्योंमें प्रवर्तता है। समन्तभद्रस्वामी, मानतुंगस्वामी आदि महान मुनियोंने भी सर्वज्ञदेवकी नम्रतापूर्वक महान स्तुति की है; एक भवावतारी इन्द्र भी रोम रोम उल्लसित हो जाये ऐसी अद्भुत भक्ति करता है। हे सर्वज्ञ परमात्मा ! इस पंचमकालमें हमें आपके जैसी परमात्मदशाका तो आत्मामें विरह है, और इस भरतक्षेत्रमें आपके साक्षात् दर्शनका भी विरह है। नाथ, आपके दर्शन विना कैसे रह सकूँ"—इस प्रकार भगवानके विरहमें उनकी प्रतिमाको साक्षात् भगवानके समान समझकर श्रावक हमेशा दर्शन-पूजन करे।—"जिन प्रतिमा जिन सारखी" क्योंकि धर्मीको सर्वज्ञका स्वरूप अपने ज्ञानमें भास गया है, इसलिये जिनविम्बको देखते ही उसे उसका स्मरण हो जाता है। नियमसार टीकामें श्री पद्मप्रभमलधारि मुनिराज कहते हैं कि जिसे भवभयरहित ऐसे भगवानके प्रति भक्ति नहीं वह जीव भवसमुद्रके बीच मगरके मुँहमें पड़ा हुआ है, जिस प्रकार संसारके रागी प्राणीको युवा स्त्रीका विरह खटकता है और उसके समाचार मिलते प्रसन्न होता है, उसीप्रकार धर्मके प्रेमी जीवको सर्वज्ञ परमात्माका विरह खटकता है, और उनकी प्रतिमाका दर्शन करते या संतों द्वारा उनका सन्देश सुनते (शास्त्रका श्रवण करते) उसे परमात्माके प्रति भक्तिका उल्लास आता है। "अहो मेरे नाथ ! तनसे-मनसे-धनसे-सर्वस्वरूपसे आपके लिये क्या-क्या करूँ !" पद्मनन्दीस्वामीने श्रावकके छह कर्त्तव्य बताये हैं, "उपासक संस्कार" में कहते हैं कि जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवानको भक्तिसे नहीं देखता तथा उनकी पूजा-स्तुति नहीं करता उसका जीवन निष्फल है और उसके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है ! मुनि इससे ज्यादा क्या कहे ? इसलिये भव्य जीवोंको प्रातः उठकर सर्व प्रथम देव-गुरुके दर्शन तथा भक्तिसे वन्दन और शास्त्र-श्रवण कर्तव्य है,—अन्य कार्य पीछे करना चाहिये। (गाथा १५-१६-१७)

प्रभो ! आपको पहचाने विना मेरा अनन्तकाल निष्फल गया, परन्तु अब मैंने आपको पहचान लिया है, मैंने आपके प्रसादसे आपके जैसा मेरा आत्मा पहचाना है, आपकी कृपासे मुझे मोक्षमार्ग मिला और मेरा जन्म-मरणका अन्त आ गया।—ऐसा धर्मी जीवको देव-गुरुके प्रति भक्तिका प्रमोद आता है। श्रावकको सम्यग्दर्शनके साथ ऐसे भाव होते हैं। इसमें जितना राग है उतना पुण्य है, रागविना जितनी शुद्धि है उतना धर्म है।

श्रावक जिनपूजाकी तरह हमेशा गुरुकी उपासना तथा हमेशा शास्त्रका स्वाध्याय

स्वामीने दिया है। (देखिये, उपासक-संस्कार अधिकार गाथा ३१ से ३६) श्रावककी भूमिकामें चैतन्यकी दृष्टि सहित इस प्रकार छह कार्योंके भाव सहज होते हैं।

"श्रावकधर्म-प्रकाशका मतलब है कि गृहस्थाश्रममें सम्यक्त्वपूर्वक धर्मका प्रकाश होकर वृद्धि होवे उसका यह वर्णन है। प्रथम तो सम्यग्दर्शनकी दुर्लभता बतलाई। ऐसे तो सम्यग्दर्शन सदाकाल दुर्लभ है, उसमें भी आजकल तो उसकी सच्ची बात सुननेको मिलना भी दुर्लभ हो गई है। और सुननेको मिले तो भी बहुतसे जीवोंको उसकी खबर नहीं पड़ती। यहाँ कहते हैं कि ऐसा दुर्लभ सम्यग्दर्शन पाकर, उत्तम पुरुष मुनिधर्मको अंगीकार करे, वैराग्यरूपमें रमणता बढ़ावे।

प्रश्नः—शास्त्रमें तो कहा है कि पहले मुनिदशाका उपदेश दो। आप तो पहले सम्यग्दर्शनका उपदेश देकर पीछे मुनिदशाकी बात करते हो? सम्यग्दर्शन बिना मुनिपना होता ही नहीं—ऐसी बात करते हो?

उत्तरः—यह बराबर है; शास्त्रमें पहले मुनिपनाका उपदेश देनेकी जो बात कही है, वह तो श्रावकपना और मुनिपना—इन दोकी अपेक्षासे पहले मुनिपनेकी बात कही है; परन्तु कोई सम्यग्दर्शनके पहले मुनिपना ले लेनेकी बात नहीं की। सम्यग्दर्शन बिना तो मुनिधर्म अथवा श्रावकधर्म होता ही नहीं। इसलिये पहले सम्यग्दर्शनकी मुख्य बात करके मुनिधर्म और श्रावकधर्म की बात है। (शास्त्रमें आता है कि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंमें देशसंयमकी अपेक्षा सीधा मुनिपना लेने वाले जीव बहुत होते हैं)।

भाई, ऐसा मनुष्यपना प्राप्त करके सम्यक्त्वसहित जो मुनिदशा हो तो अवश्य करना, वह तो उत्तम है, और जो इतना तेरी शक्तिकी हीनतासे नहीं हो सके, तो श्रावकधर्मके पालन द्वारा मनुष्यभवकी सार्थकता करना। ऐसा मनुष्यभव बार बार मिलना दुर्लभ है। यह शरीर क्षणमें नष्ट होकर उसके रजकण हवामें उड़ जायेंगे।—

रजकण तारां रखडशे जेम रखडती रेत,
पछी नरभव पामीश क्यां ? चेत चेत नर चेत !

जिस प्रकार एक वृक्ष बिल्कुल हरा हो और जलकर भस्म हो जाय और उसकी राख हवामें चारों ओर उड़ जाय; पीछे फिरसे वही परमाणु उसी वृक्षरूप हो जायें अर्थात् एकत्रित होकर फिरसे उसी स्थान पर वैसे ही वृक्षरूप परिणमें—यह कितना दुर्लभ है? मनुष्यपना तो उसकी अपेक्षा और भी दुर्लभ है।—इसलिये तू इसे धर्म सेवनके बिना विषय-कषायोंमें ही नष्ट न कर।

जिनदर्शन आदि छह कार्य श्रावकके प्रतिदिन होते हैं। यहाँ सम्यग्दर्शन सहित श्रावककी मुख्य बात है; सम्यग्दर्शनके पूर्व जिज्ञासु भूमिकामें भी सज्जनों द्वारा जिनदर्शन-पूजा-स्वाध्याय आदि कार्य होते हैं। जो सच्चे देव-गुरु-शास्त्रको नहीं पहिचाने, उनकी उपासना नहीं करे, वह तो व्यवहारसे भी श्रावक नहीं कहलाता।

प्रश्नः—देव-गुरु-शास्त्र तरफका भाव तो पराश्रितभाव है न?

उत्तरः—भेदज्ञानीको तो उस समय स्वयंके धर्मप्रेमका पोषण होता है। संसार संबंधी स्त्री-पुत्र-शरीर व्यापार आदि तरफके भावमें तो पापका पोषण है; उसकी दिशा बदलकर-धर्मके निमित्तों तरफके भाव आवें उसमें तो रागकी मंदता होती है तथा वहां सच्ची पहिचानका—स्वाश्रयका अवकाश है। भाई, पराश्रयभाव तो पाप और पुण्य दोनों हैं, परन्तु धर्म जिज्ञासुको पाप तरफका लगाव छूटकर धर्मके निमित्तरूप देव-गुरु-धर्मकी तरफ लगाव होता है। इसका विवेक नहीं करे और स्वच्छंद पापमें प्रवर्ते या कुदेवादिको माने इसे तो धर्मी होनेकी पात्रता भी नहीं।

सर्वज्ञ कैसे होते हैं, उनके साधक गुरु कैसे होते हैं, उनकी वाणीरूप शास्त्र कैसे होते हैं, शास्त्रोंमें आत्माका स्वभाव कैसा बतलाया है,—उनके अभ्यासका रस होना चाहिये। सत्‌शास्त्रोंका स्वाध्याय ज्ञानकी निर्मलताका कारण है। लौकिक उपन्यास और अखबार पढ़े उसमें तो पापभाव है। जिसे धर्मका प्रेम हो उसे दिन-प्रतिदिन नये-नये वीतरागी श्रुतके स्वाध्यायका उत्साह होता है। यह निर्णयमें तो है कि ज्ञान मेरे स्वभावमेंसे ही आता है, परन्तु जबतक इस स्वभावमें एकाग्र नहीं रहा जाता तबतक वह शास्त्रस्वाध्याय द्वारा बारम्बार उसका घोलन करता है। सर्वार्थसिद्धिका देव तेतीस सागरोपम तक तत्त्वचर्चा करता है। इन सब देवोंको आत्माका भान है, एक भवमें मोक्ष जाने वाले हैं, अन्य कोई काम (व्यापार-धन्धा या रसोई-पानीका काम) उनका नहीं है। तेतीस सागरोपम अर्थात् असंख्यात वर्षों तक चर्चा करते-करते भी जिसका रहस्य पूर्ण नहीं होता ऐसा गम्भीर श्रुतज्ञान है, धर्मीको उसके अभ्यासका बड़ा प्रेम होता है; ज्ञानका चस्का होता है। चौवीसों घंटे केवल विकथामें या व्यवहार-धन्धेके परिणाममें लगा रहे और ज्ञानके अभ्यासमें जरा भी रस न ले—वह तो पापमें बड़ा हुआ है। धर्मी श्रावकको तो ज्ञानका कितना रस होता है!

प्रश्नः—परन्तु शास्त्र-अभ्यासमें हमारी बुद्धि न चले तो?

उत्तरः—यह बहाना खोटा है। कदाचित् न्याय, व्याकरण या गणित जैसे विषयमें बुद्धि न चले, परन्तु जो आत्माको समझनेका प्रेम हो तो शास्त्रमें आत्माका स्वरूप क्या

कहा है ? उससे धर्म किस प्रकार हो-यह सब समझमें कैसे न आवे ? न समझे तो गुरु द्वारा या साधर्मीको पूछकर समझना चाहिये; परन्तु पहलेसे ही "समझमें नहीं आता" —ऐसा कहकर शास्त्रका अभ्यास ही छोड़ दे उसे तो ज्ञानका प्रेम नहीं है।

सर्वज्ञदेवकी पहचान पूर्वक सेवा-पूजा, सन्त-गुरु-धर्मात्माकी सेवा, साधर्मीका आदर—यह श्रावकको जरूर होता है। गुरुसेवा अर्थात् धर्ममें जो बड़े हैं, धर्ममें जो उच्च हैं और उपकारी हैं उनके प्रति विनय-बहुमानका भाव होता हैं। वह शास्त्रका श्रवण भी विनयपूर्वक करता है। प्रमादपूर्वक या हाथमें पंखा लेकर हवा खाते-खाते शास्त्र सुने तो अविनय है। शास्त्र सुननेके प्रसंगमें विनयसे ध्यानपूर्वक उसका ही लक्ष रखना चाहिये। इसके पश्चात् भूमिकाके योग्य राग घटाकर संयम, तप और दान भी श्रावक हमेशा करे। इसके पश्चात् श्रावकके व्रत कौनसे होते हैं वे आगेकी गाथामें कहेंगे।

इन शुभ कार्योंमें कोई रागका आदर करनेका नहीं समझाया, परन्तु धर्मात्माको शुद्धदृष्टिपूर्वक किस भूमिकामें रागकी कितनी मन्दता होती है, यह बतलाया है। भगवान सर्वज्ञ परमात्माके अनुरागी, वनमें बसने वाले वीतरागी सन्त नौ सौ वर्ष पहले हुए पद्मनन्दी मुनिराजने इस श्रावकधर्मका प्रकाश किया है।

सर्वज्ञदेवकी पूजा, धर्मात्मा गुरुओंकी सेवा, शास्त्र-स्वाध्याय करना श्रावकका कर्तव्य है—ऐसा व्यवहारसे उपदेश है। शुद्धोपयोग करना यह तो प्रथम बात है। परन्तु वह न हो सके तो शुभकी भूमिकामें श्रावकका कैसे कार्य होते हैं उसे बतानेके लिये यहाँ उसे कर्तव्य कहा है—ऐसा समझना। इसमें जितना शुभराग है वह तो पुण्यबन्धका कारण है, और सम्यग्दर्शन सहित जितनी शुद्धता है वह मोक्षका कारण है। सम्यग्दर्शन प्राप्त कर मोक्षमार्गमें जिसने गमन किया है—ऐसे श्रावकको मार्गमें किस प्रकारके भाव होते हैं आचार्यश्रीने उसे बतलाकर श्रावकधर्मको प्रकाशित किया है। ऐसा मनुष्य अवतार और ऐसा उत्तम जैन-शासन पाकर हे जीव! उसे तू व्यर्थ न गँवा; प्रथम तो सर्वज्ञ—जिनदेवको पहचानकर सम्यग्दर्शन प्रगट कर, इसके पश्चात् मुनिदशाके महाव्रत धारण कर, जो महाव्रत न पाल सके तो श्रावकके धर्मोंका पालन कर और श्रावकके देशव्रत धारण कर। श्रावकके व्रत कौनसे होते हैं वे आगेकी गाथामें कहते हैं।

[५]

श्रावक के व्रतों का वर्णन

सम्यग्दृष्टि–पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावकका राग कितना घट गया है और इसका विवेक कितना है। एकभवावतारी इन्द्र और सर्वार्थ-सिद्धिके देवोंसे भी ऊँची जिसकी पदवी है, इसके विवेककी और इसके मंदरागकी क्या बात! वह अन्दर शुद्धात्माकी दृष्टि में लेकर साधता है और उसके पर्यायमें राग बहुत घट गया है। मुनिकी अपेक्षा थोड़ी ही कम जिसकी दशा है।–ऐसी यह श्रावकदशा अलौकिक है।

यह देशव्रतोद्योतन अर्थात् श्रावकके व्रतोंका प्रकाशन चल रहा है। सबसे पहले सर्वज्ञदेव द्वारा कहे गये धर्मकी पहचान करनेको कहा गया है, पश्चात् सम्यग्दृष्टि अकेला ही मोक्षमार्गमें शोभाको प्राप्त होता है,—ऐसा कहकर सम्यक्त्वकी प्रेरणा की है। तीसरी गाथामें सम्यग्दर्शनको मोक्षवृक्षका बीज कहकर उसकी दुर्लभता बताई तथा यत्नपूर्वक सम्यक्त्व प्राप्त करके उसकी रक्षा करनेको कहा गया है। सम्यक्त्व प्राप्त करनेके पश्चात् मुनिधर्मका अथवा श्रावकधर्मका पालन करनेका उपदेश दिया है, उसमें श्रावकके हमेशाके छह कर्तव्योंको भी बतलाया। अब श्रावकके व्रतोंका वर्णन करते हैं—

दृग्मूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पंचधाणुव्रत।
शीलाख्यं च गुणव्रत त्रयमतः शिक्षाश्चतस्रः पराः॥
रात्रौ भोजनवर्जनं शुचिपटात् पेयं पयः शक्तितो।
मौनादिव्रतमप्यनुष्ठितमिदं पुण्याय भव्यात्मनाम्॥५॥

श्रावक सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ मूलगुणोंका पालन करे तथा पांच अणुव्रत, तीन

गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत-ये सात शीलव्रत;—इस प्रकार कुल बारह व्रत, रात्रि-भोजन परित्याग, पवित्र वस्त्रसे छने जलका पीना तथा शक्ति अनुसार मौनादि व्रतका पालन करना;—ये सब आचरण भव्य जीवोंको पुण्यके कारण हैं।

देखो ! इसमें दो बात बताई। एक तो दृग् अर्थात् सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन होता है—यह बात बताई, और दूसरी ये शुभ-आचरण पुण्यका कारण है अर्थात् आस्रवका कारण है, मोक्षका कारण नहीं। मोक्षका कारण तो सम्यग्दर्शन पूर्वक स्वद्रव्यके आलंबन द्वारा जितनी वीतरागता हुई वह है।

जिसको आत्मभान हुआ है, कषायोंसे भिन्न आत्मभाव अनुभवमें आया है, पूर्ण वीतरागताकी भावना है परन्तु अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है; वहाँ श्रावक अवस्थामें उसे किस प्रकारका आचरण होता है वह यहाँ बताया गया है।

जिस प्रकार गतिमानको धर्मास्तिकाय निमित्त है, उसी प्रकार स्वाश्रित शुद्धात्माके बलसे जिसने मोक्षमार्गमें गमन किया है, उस जीवको बीचकी भूमिकामें यह व्रतादि शुभ-आचरण निमित्तरूपसे होता है। सम्यग्दर्शन होने पर चौथे गुणस्थानसे प्रारम्भ हुई है—निश्चय मोक्षमार्गके जघन्य अंशकी शुरूआत हो गई है, पश्चात् पाँचवें गुणस्थानमें शुद्धता बढ़ गई है और राग बहुत कम हो गया है; उस भूमिकामें शुभरागके आचरणकी मर्यादा कितनी है और उसमें किस प्रकारके व्रत होते हैं यह बताया है। यह शुभरागरूप आचरण श्रावकको पुण्यबन्धका कारण है अर्थात् धर्मी जीव अभिप्रायमें इस रागको भी कर्तव्य नहीं मानते, रागके एक अंशको भी धर्मी जीव मोक्षमार्ग नहीं मानते, अतः उसे कर्त्तव्य नहीं मानते परन्तु अशुभसे बचनेके लिये शुभको व्यवहारसे कर्त्तव्य कहा जाता है; क्योंकि उस भूमिकामें उस प्रकारका भाव होता है।

जहाँ शुद्धताकी शुरुआत हुई है परन्तु पूर्णता नहीं हुई वहाँ बीचमें साधकको महाव्रत या देशव्रत परिणाम होते हैं। परन्तु जिसे अभी शुद्धताका अंश भी प्रगट नहीं हुआ है, जिसे परमें कर्त्तव्यबुद्धि है, जो रागको मोक्षमार्ग स्वीकारता है, उसे तो अभी मिथ्यात्वका शल्य है, ऐसे शल्यवाले जीवको व्रत होते ही नहीं क्योंकि व्रती तो निःशल्य होता है—'निःशल्यो व्रती' यह भगवान उमास्वामीका सूत्र है। जिसे मिथ्यात्वका शल्य न हो, जिसे निदानका शल्य न हो उसे ही पाँचवाँ गुणस्थान और व्रतीपना होता है।

पहली बात दृग् अर्थात् सम्यग्दर्शनकी है। सर्वज्ञदेवकी प्रतीतिपूर्वक सम्यग्दर्शन होना यह पहली शर्त है; पीछे आगेकी बात है। श्रावकको सम्यग्दर्शनपूर्वक अष्ट मूल-गुणोंका पालन नियमसे होता है। बड़का फल, पीपर, कठूमर, ऊमर तथा पाकर इन

अपने आंगनमें मुनिराजको देखते ही धर्मात्माको अत्यन्त आनन्द होता है। श्रावकके आठ प्रकारकी कषायके अभावसे सम्यक्त्वपूर्वक जितनी शुद्धता प्रकट हुई है उतना मोक्षमार्ग है। ऐसा मोक्षमार्ग हो वहां त्रसहिंसाके परिणाम नहीं होते। भाई! आत्माका खजाना खोलनेके लिये यह अवसर मिला, उसमें विकथामें समय नष्ट करना कैसे शोभे? सम्यक्त्वसहित आंशिक वीतरागता पूर्वक श्रावकपना शोभता है।

पाँचवीं गाथामें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे जो बारह व्रत कहे वे कौन हैं? यह बतलाकर उनका पालन करनेको कहते हैं:—

हन्ति स्थावरदेहिनः स्वविषये सर्वान्त्रसान् रक्षति
ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमवलां शुद्धां निजां सेवते।
दिग्देशव्रत दण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रौषधं
दानं भोगयुगप्रमाणमुररी कुर्याद् गृहीति व्रती ॥६॥

देशव्रती श्रावकको प्रयोजनवश (आहार आदिमें) स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है परन्तु समस्त त्रस जीवोंकी तो रक्षा करता है; सत्य बोलता है, अचौर्यव्रत पालता है, शुद्ध स्वस्त्रीके सेवनमें संतोष अर्थात् कि परस्त्री सेवनका त्याग है तथा पाँचवाँ व्रत परिग्रहकी मर्यादा भी श्रावकको होती है। अभी उसके मुनिदशा नहीं अर्थात् सर्व परिग्रहका भाव नहीं छूटा, परन्तु उसकी मर्यादा आ गई है। परिग्रहमें कहीं सुख नहीं है, ऐसा भान है और "कोई भी परद्रव्य मेरा नहीं है, मैं तो ज्ञानमात्र हूँ" ऐसी अन्तर्दृष्टिमें

और चार शिक्षाव्रत होते हैं। सामायिक—अर्थात् पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक प्रतिदिन परिणामको अंतरमें एकाग्र करनेका अभ्यास करे।

प्रोपधोपवास—अष्टमी, चौदसके दिनोंमें श्रावक उपवास करके परिणामको विशेष एकाग्र करनेका प्रयोग करे। सभी आरम्भ छोड़कर धर्मध्यानमें ही पूरा दिन व्यतीत करे।

दान—अपनी शक्ति अनुसार योग्य वस्तुका दान करे; आहारदान, शास्त्रदान, औषधदान, अभयदान-इस प्रकार चार प्रकारके दान श्रावक करे। उनका विशेष वर्णन आगे करेंगे। अतिथिके प्रति अर्थात् मुनि या धर्मात्मा श्रावकके प्रति बहुमानपूर्वक आहार दानादि करे, शास्त्र देवे, ज्ञानका प्रचार कैसे बढ़े-ऐसी भावना उसको होती है। इसे अतिथिसंविभाग-व्रत कहते हैं।

भोगोपभोगपरिमाण व्रत—अर्थात् खाने-पीने इत्यादिकी जो वस्तु एकबार उपयोग-में आती है उसे भोग-सामग्री कहते हैं, और वस्त्रादि जो सामग्री बारम्बार उपयोगमें आवे उसे उपभोग-सामग्री कहते हैं, उसका प्रमाण करे, मर्यादा करे। उसमें सुखबुद्धि तो पहलेसे ही छूट गई है, क्योंकि जिससें सुख माने उसकी मर्यादा नहीं होती।

इस प्रकार पाँच अणुव्रत और चार शिक्षाव्रत—ऐसे बारह व्रत श्रावकको होते हैं। इन व्रतोंमें जो शुभविकल्प है वह तो पुण्यबन्धका कारण है और उस समय स्व-द्रव्यके आलंबनरूप जितनी शुद्धता होती है वह संवर-निर्जरा है। ज्ञायक आत्मा रागके एक अंशका भी कर्त्ता नहीं, और रागके एक अंशसे भी उसे लाभ नहीं ऐसा भान धर्मीको बना रहता है। यदि ज्ञानमें रागका कर्तृत्व माने अथवा रागसे लाभ माने तो मिथ्यात्व है। भेदज्ञानीको शुभरागमें पापसे बचा उतना लाभ कहलाता है, परन्तु निश्चयधर्मका लाभ उस शुभरागमें नहीं। धर्मका लाभ तो जितना वीतरागभाव हुआ उतना ही है। सम्यक्त्व सहित अंशरूपमें वीतरागभावपूर्वक श्रावकपना शोभता है।

भाई, आत्माके खजानेको खोलनेके लिये ऐसा अवसर मिला, उसमें विकथामें, पापस्थानमें और पापाचारमें समय गमाना कैसे निभे? सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कहे हुए आत्माके शुद्ध स्वभावको लक्षमें लेकर बारम्बार उसको अनुभवमें ला और उसमें एकाग्रता की वृद्धि कर। लोकमें ममता वाले जीव भोजन आदि सर्व प्रसंगमें स्त्री-पुत्रादिको ममतासे याद करते हैं उसी प्रकार धर्मके प्रेमी जीव भोजनादि सर्व प्रसंगमें प्रेमपूर्वक धर्मात्माको याद करते हैं कि मेरे आँगनमें कोई धर्मात्मा अथवा कोई मुनिराज पधारें तो उनको भक्तिपूर्वक भोजन देकर मैं भोजन करूँ। भरत चक्रवर्ती जैसे धर्मात्मा भी भोजनके समय रास्ते पर आकर मुनिराजके आगमनकी प्रतीक्षा करते थे, और मुनिराजके पधारने पर

भक्तिपूर्वक दान देना मुख्य है। आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान ये चार प्रकारके दान आगेके चार श्लोकमें बतलायेंगे।

धनवान अर्थात् जिसने अभी परिग्रह नहीं छोड़ा ऐसे श्रावकका मुख्य धर्म सत्-पात्रदान है। सम्यग्दर्शनपूर्वक जहाँ ऐसे दान-पूजादिका शुभराग आता है वहाँ धर्मात्माको उस रागका भी निषेध वर्तता है, अर्थात् उस धर्मीको उस रागसे "सत् पुण्य" बंधता है। अज्ञानीको "सत् पुण्य" नहीं होता क्योंकि उसे तो पुण्यकी रुचि है, रागके आदरकी बुद्धिसे पुण्यके साथ मिथ्यात्वरूपी बड़ा पापकर्म उसे बंधता है।

यहाँ दानकी मुख्यता कही है उससे अन्यका निषेध न समझना। जिनपूजा आदि को भी सत् पुण्यका हेतु कहा है, वह भी श्रावकको प्रतिदिन होता है। कोई उसका निषेध करे तो उसे श्रावकपनेकी या धर्मकी खबर नहीं है।

जिनपूजाको कोई परमार्थसे धर्म ही मान ले तो भूल है, और जिनपूजाका कोई निषेध करे तो वह भी भूल है। जिन-प्रतिमा जैनधर्ममें अनादिकी वस्तु है। परन्तु वह जिन प्रतिमा वीतराग हो—"जिन प्रतिमा जिनसारखी" किसीने उस जिन-प्रतिमाके पर चन्दन-पुष्प-आभरण-मुकुट-वस्त्र आदि चढ़ाकर उसका स्वरूप विकृत कर दिया, और किसीने जिन-प्रतिमाके दर्शन-पूजनमें पाप बतलाकर उसका निषेध किया हो—यह दोनोंकी भूल है। इस सम्बन्धी एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है—दो मित्र थे; एक मित्रके पिताने दूसरेके पिताको १०० (एकसौ) रुपये उधार दिये, और बहीमें लिख लिये। दूसरेका पिता मर गया। कितने ही वर्षोंके बाद पुराने बहीखाते देखते पहले मित्रको खबर लगी की मेरे पिताने मित्रके पिताको एक सौ रुपया दिये थे, परन्तु उसे तो बहुत वर्ष बीत गये। ऐसा समझकर उसने १०० ऊपर आगे दो बिन्दु लगाकर १०,००० (दस-हजार) बना दिये; और पश्चात् मित्रको कहा कि तुम्हारे पिताने मेरे पितासे दस हजार रुपये लिये थे, इसलिये लौटाओ। इस मित्रने कहा कि मैं मेरे पुराने बही-चोपड़े देखकर फिर कहूँगा। घर जाकर पिताकी बहियाँ देखी तो उसमें दस हजारके बदले सौ रुपये निकले। इस पर उसने विचार किया कि जो रुपये स्वीकार करता हूं तो मुझे दस हजार रुपये देना पड़ेंगे। इसलिये उसकी नीयत खराब हो गई और उसने तो मूलसे ही उड़ा दी की मेरी बहियोंमें कुछ नहीं निकलता। इसमें सौ रुपयेकी रकम तो सच्ची थी, परन्तु एकने लोभवश उसमें दो बिन्दु बढ़ा दिये और दूसरेने वह रकम सम्पूर्ण उड़ा दी। उसी प्रकार अनादि जिनमार्गमें जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर, उनकी पूजा आदि यथार्थ है; परन्तु एकने दो बिन्दुओंकी तरह उसके ऊपर वस्त्र-आभरण आदि परिग्रह

बढ़ाकर विकृति कर डाली और दूसरेने तो शास्त्रमें मूर्ति ही नहीं ऐसा गलत अर्थ करके उसका निषेध किया है। और इन दोके अतिरिक्त, वीतरागी जिनप्रतिमाको स्वीकार करके भी उस तरफके शुभरागका जो मोक्षके साधनरूप धर्म बतावे उसने भी धर्मके सच्चे स्वरूपको नहीं समझा है। भाई, जिनप्रतिमा है, उसके दर्शन-पूजनका भाव होता है, परन्तु उसकी सीमा कितनी ? कि शुभराग जितनी।—इससे आगे बढ़कर इसे जो तू परमार्थधर्म मान ले तो वह तेरी भूल है।

एक शुभ विकल्प उठे वह भी वास्तवमें ज्ञानका कार्य नहीं, मैं तो सर्वज्ञस्वभावी हूं, जैसे सर्वज्ञमें विकल्प नहीं वैसे ही मेरे ज्ञानमें भी रागरूपी विकल्प नहीं है। "ये विकल्प उठते हैं न ?"—तो कहते हैं कि वह कर्मका कार्य है, मेरा नहीं। मैं तो ज्ञान हूं, ज्ञानका कार्य राग कैसे हो ?—इस प्रकार ज्ञानीको रागसे पृथक् त्रैकालिक स्वभावके भानपूर्वक उसे टालनेका उद्यम होता है। जिसने रागसे पृथक् अपने स्वरूपको नहीं जाना और रागको अपना स्वरूप माना है वह रागको कहाँसे टाल सकेगा ? ऐसे भेदज्ञानके बिना सामायिक भी सच्ची नहीं होती। सामायिक तो दो घड़ी अंतरमें निर्विकल्प आनन्दके अनुभवका एक अभ्यास है; और दिन-रात चौबीस घन्टे आनन्दके अनुभवको जांच उसका नाम प्रौषध है; और शरीर छूटनेके प्रसंगमें अंतरमें एकाग्रताका विशेष अभ्यासका नाम संल्लेखना अथवा संथारा है। परन्तु जिसे रागसे भिन्न आत्मस्वभावका अनुभव ही नहीं उसे कैसी सामायिक ? और कैसा प्रौषध ? और कैसा संथारा ? भाई, यह वीतरागमार्ग जगतसे न्यारा है।

यहाँ अभी जिसने सम्यकदर्शन सहित व्रत अंगीकार किये हैं ऐसे धर्मी श्रावकको जिनपूजा आदिके उपरान्त दानके भाव होते हैं उसकी चर्चा चल रही है। तीव्र लोभरूपी कुवेकी खोलमें फंसे हुए जीवको उसमेंसे बाहर निकलनेके लिये श्री पद्मनन्दी स्वामीने करुणा करके दानका विशेष उपदेश दिया है। दान अधिकारकी छयालीसवीं गाथामें कौवेका दृष्टान्त देकर कहा है कि—जो लोभी पुरुष दान नहीं देता और लक्ष्मीके मोहरूपी बंधनसे बंधा हुआ है, उसका जीवन व्यर्थ है, उसकी अपेक्षा तो वह कौवा श्रेष्ठ है जो अपनेको मिली हुई जली खुरचनको काँव काँव करके दूसरे कौवोंको बुलाकर खाता है। जिस समयमें तेरे गुण जले अर्थात् उनमें विकृत हुई उस समयमें रागसे पुण्य बंधा, उस पुण्यसे कुछ लक्ष्मी मिली, और अब तू सत्पात्रके दानमें उसे नहीं खर्चे और मात्र पापहेतुमें ही खर्चे तो तुझे सिर्फ पापका ही बंधन होता है; तेरी यह लक्ष्मी तुझे बंधनका ही कारण है। सत्पात्र दानरहित जीवन निष्फल है; क्योंकि जिसमें धर्मका और

धर्मात्माका प्रेम नहीं—उसमें आत्माका क्या लाभ ?

भाई, यह दानका उपदेश संत तेरे [illegible] हैं। संत तो वीतरागी हैं और उन्हें तेरे धनकी वाञ्छा नहीं, वे तो [illegible] वाले और चैतन्यके आनन्दमें झूलने वाले हैं। यह यौवन, जीवन और धन सब स्वप्न समान क्षणभंगुर हैं—तो भी जो जीव [illegible] आदिमें राग [illegible] नहीं छोड़ते और लोभरूपी कुएंकी खोहमें भरे हुए हैं उन पर करुणा करके उद्धारके लिये संतोंने यह उपदेश दिया है। अन्तरमें सम्यग्दृष्टिपूर्वक अन्य धर्मात्माओंके प्रति [illegible] भाव आवे उसमें स्वयंकी धर्मभावना पुष्ट होती है, इसलिये ऐसा कहा कि दान श्रावकको भवसमुद्रसे तिरनेके लिये जहाजके समान है। जिसे निज-आत्माका प्रेम है उसे अन्य धर्मात्माके प्रति प्रमोद-प्रेम और बहुमान आता है। धर्म, धर्मी जीवोंके आधारसे है इसलिये जिसे धर्मी जीवोंके प्रति प्रेम नहीं उसे धर्मका प्रेम नहीं। जो मनुष्य साधर्मी-सज्जनोंके प्रति शक्ति अनुसार वात्सल्य नहीं करता उसकी आत्मा प्रबल पापसे ढँकी हुई है और धर्मसे वह विमुख है अर्थात् वह धर्मका अभिलाषी नहीं। भव्य जीवोंको साधर्मी-सज्जनोंके साथ अवश्य प्रीति करनी चाहिए—ऐसा उपासक-संस्कारकी गाथा ३५ में पद्मनन्दी स्वामीने कहा है। भाई, लक्ष्मी आदिका प्रेम घटाकर धर्मका प्रेम बढ़ा। भव्यको धर्मका उल्लास आवे तो धर्मप्रसंगमें तन-मन-धन खर्च करनेका भाव उछले बिना नहीं रहे; धर्मात्माको देखते ही उसे प्रेम उमड़ता है। वह जगतको दिखाने के लिए दानादि नहीं करता, परन्तु स्वयंको अंतरमें धर्मका ऐसा प्रेम सहज ही उल्लसित होता है।

धर्मात्माकी दृष्टिमें तो आत्माके आनन्दस्वभावकी ही मुख्यता है, परन्तु उसको शुभ कार्योंमें दानकी मुख्यता है। दृष्टिमें आत्माके आनन्दकी मुख्यता रखते हुए भूमिका अनुसार दानादिके शुभ भावोंमें वह प्रवर्तता है। वह किसीको दिखानेके लिये नहीं करता परन्तु अन्तरमें धर्मके प्रति उसको सहजरूपसे उल्लास आता है।

लोग स्थूलदृष्टिसे धर्मीको मात्र शुभभाव करता हुए देखते हैं, परन्तु अन्दरकी गहराईमें धर्मीकी मूलभूत दृष्टि वर्तती है—जो स्वभावका अवलम्बन कभी नहीं छोड़ती और रागको कभी आत्मरूप नहीं करती,—उसको दुनियां नहीं देखती, परन्तु धर्मका मूल तो वह दृष्टि है। "धर्मका मूल गहरा है। "गहरा ऐसा जो अन्तरंगस्वभावधर्मका वटवृक्ष है, उस ध्रुव पर दृष्टि डालकर एकाग्रताका सींचन करते-करते इस वटवृक्षमेंसे केवल ज्ञान प्रगट होगा। अज्ञानीके शुभभाव अर्थात् परलक्षी शास्त्रपठन ये तो भाद्रपद महिनेके भींडीके पौधे जैसे हैं, वे लम्बे काल तक टिकेंगे नहीं। धर्मात्माको ध्रुवस्वभावकी दृष्टिसे

धर्मका विकास होता है बीचमें शुभराग और पुण्य आता है उसको तो वह हेय जानता है;—जो विकार है उसकी महिमा क्यों ? और उससे आत्माकी महत्ता क्या ? अज्ञानी तो राग द्वारा अपनी महत्ता मानकर, स्वभावकी महत्ताको भूल जाता है और संसारमें भटकता है । ज्ञानीको सत्‌स्वभावकी दृष्टिपूर्वक जो पुण्यबंध होता है उसे सत्‌पुण्य कहते हैं; अज्ञानीके पुण्यको सत्‌पुण्य नहीं कहते ।

जिसे राग-पुण्यकी और उसके फलकी प्रीति है वह तो अभी संयोग ग्रहण करनेकी भावनावाला है, अर्थात् उसे दानकी भावना सच्ची नहीं होती । स्वयं तृष्णा घटावे तो दानका भाव कहा जाता है । परन्तु जो अभी किसीको ग्रहण करनेमें तत्पर है और जिसे संयोगकी भावना है वह राग घटाकर दान देनेमें राजी कहाँसे होगा ? मेरा आत्मा ज्ञानस्वभावी, स्वयंसे पूर्ण है, परका ग्रहण अथवा त्याग मेरेमें है ही नहीं,—ऐसे असंगस्वभावकी दृष्टिवाला जीव परसंयोगहेतु माथापच्ची न करे; इसे संयोगकी भावना कितनी टल गई है ? परन्तु इसका माप अन्तर्दृष्टि बिना पहिचाना नहीं जा सकता ।

भाई, तुझे पुण्योदयसे लक्ष्मी मिली और जैनधर्मके सच्चे देव-गुरु महारत्न तुझे महाभाग्यसे मिले, अब जो तू धर्म-प्रसंगमें तेरी लक्ष्मीका उपयोग करनेके बदले स्त्री-पुत्र तथा विषय-कषायके पापभावमें ही धनका उपयोग करता है तो हाथमें आया हुआ रत्न समुद्रमें फेंक देने जैसा तेरा कार्य है । धर्मका जिसे प्रेम होता है वह तो धर्मकी वृद्धि किस प्रकार हो, धर्मात्मा कैसे आगे बढे, साधर्मियोंको कोई भी प्रतिकूलता हो तो वह कैसे दूर हो—ऐसे प्रसंग विचार-विचारकर उनके लिये उत्साहसे धन खर्चता है । धर्मी जीव बारम्बार जिनेन्द्रपूजनका महोत्सव करता है । पुत्रके लग्नमें कितने उत्साहसे धन खर्च करता है ! उधार करके भी खर्चता है तो धर्मकी लगनमें देव-गुरुकी प्रभावनाके लिये और साधर्मीके प्रेमके लिये उससे भी विशेष उल्लासपूर्वक प्रवर्तना योग्य है । एकबार शुभभावमें कुछ खर्च कर दिया इसलिये बस है,—ऐसा नहीं, परन्तु बारम्बार शुभकार्यमें उल्लाससे वर्ते ।

दान अपनी शक्ति अनुसार होता है, लाख-करोड़की सम्पत्तिमेंसे सौ रुपया खर्च हो, वह कोई शक्ति-अनुसार नहीं कहा जा सकता । उत्कृष्टरूपसे चौथा भाग, मध्यमतासे छट्ठा भाग; तथा कमसे कम दसवाँ भाग खर्च करे उसको शक्ति-अनुसार दान कहा गया है ।

देखिये, यह किसी प्रकार कोई परके लिये करनेकी बात नहीं है, परन्तु आत्माके भान सहित परिग्रहकी ममता घटानेकी बात है । नये-नये महोत्सवके प्रसंग तैयार करके श्रावक अपने धर्मका उत्साह बढ़ाता जाता है और पापभाव घटाता जाता . . उन

प्रसंगोंमें मुनिराजको अथवा धर्मात्माको अपने आँगनमें बैठाकर भक्तिसे आहारदान करना उसका प्रधान कर्तव्य कहा गया है क्योंकि उसमें धर्मके स्मरणका और धर्मकी भावनाकी पुष्टिका सीधा निमित्त है । मुनिराज इत्यादि धर्मात्माको देखते ही स्वयंके रत्नत्रयधर्मकी भावना तीव्र हो जाती है ।

कोई कहे कि हमारे पास वहुत सम्पत्ति नहीं है, तो कहते हैं कि भाई कम पूंजी हो तो कम ही खर्च । तुझे तेरे भोग-विलासके लिये लक्ष्मी मिलती है और धर्मप्रभावनाका प्रसंग आता है वहां तू हाथ खींच लेता है, तो तेरे प्रेमकी दिशा धर्मकी तरफ नहीं परन्तु संसार तरफ है। धर्मके वास्तविक प्रेमवाला धर्मप्रसंगमें नहीं छिपता ।

भाई, लक्ष्मीकी ममता तो तुझे केवल पापवन्धका कारण है, स्त्री, पुत्रके लिये या शरीरके लिये तू जो लक्ष्मी खर्च करेगा वह तो तुझे मात्र पापवन्धका ही कारण होगी । और वीतरागी देव-गुरु-धर्म-शास्त्र-जिनमंदिर आदिमें जो तेरी लक्ष्मीका सदुपयोग करे तो वह पुण्यका कारण होगी और तेरे धर्मके संस्कार भी दृढ़ होंगे । इसलिये संसारके निमित्त और धर्मके निमित्त इन दोनोंका विवेक कर । धर्मात्मा श्रावकको तो सहज ही यह विवेक होता है और उसे सुपात्रदानका भाव होता है। जैसे रिश्तेदारको प्रेमसे-आदरसे जिमाता है उसीप्रकार सच्चा सम्बन्ध साधर्मीसे है। साधर्मी-धर्मात्माओंको प्रेमसे-बहुमानसे घर बुलाकर जिमाता है,—ऐसे दानके भावको संसारसे तिरनेका कारण कहा है, क्योंकि मुनिके या धर्मात्माके अन्तरके ज्ञानादिकी पहचान वह संसारसे तिरनेका हेतु होता है। सच्ची पहिचानपूर्वक दानकी यह बात है। सम्यग्दर्शन विना अकेले दानके शुभपरिणामसे भवका अन्त हो जाय—ऐसा नहीं बनता। यहां तो सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावकको दानके भाव होते हैं इसकी मुख्यता है ।

दानके चार प्रकार हैं—आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान-उनका वर्णन करते हैं ।

[८]

आहारदानका वर्णन

चैतन्यकी मस्तीमें मस्त मुनिको देखते हुए गृहस्थको ऐसा भाव आता है कि अहा, रत्नत्रय साधना वाले संतको शरीरकी अनुकूलता रहे ऐसा आहार-औषध देऊँ जिससे वह रत्नत्रयको निर्विघ्न साधे इसमें मोक्षमार्गका बहुमान है कि अहो ! धन्य ये सन्त और धन्य आजका दिन कि मेरे आंगनमें मोक्षमार्गी मुनिराजके चरण पड़े...आज तो मेरे आँगनमें मोक्षमार्ग साक्षात् आया....वाह, धन्य ऐसे मोक्षमार्गी मुनिको देखते ही श्रावकका हृदय बहुमानसे उछल जाता है। जिसे धर्मीके प्रति भक्ति नहीं, आदर नहीं, उसे धर्मका प्रेम नहीं।

धर्मी श्रावकको आहारदानके कैसे भाव होते हैं वह यहाँ बतलाते हैं—

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुभृत् तन्मोक्ष एव स्फुटं
दृष्ट्यादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्।
तद्‌वृत्तिर्वपुषोऽस्य वृत्तिरशनात् तद्दीयते श्रावकैः
काले क्लिष्टतरेऽपि मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते ॥ ८ ॥

सर्व जीव सुख चाहते हैं; वह सुख प्रगटरूपसे मोक्षमें है; उस मोक्षकी सिद्धि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय द्वारा होती है; रत्नत्रय निर्ग्रन्थ-दिगम्बर साधुको होता है; साधु की स्थिति शरीरके निमित्तसे होती है, और शरीरकी स्थिति भोजनके निमित्तसे होती है; और भोजन श्रावकों द्वारा देनेमें आता है। इस प्रकार इस अतिशय क्लिष्ट कालमें भी मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति "प्रायः" श्रावकोंके निमित्तसे हो रही है।"

व्यवहारका कथन है इसलिये प्रायः शब्द रखा है; निश्चयसे तो आत्माके शुद्ध भावके आश्रयसे ही मोक्षमार्ग टिका हुआ है, और उस भूमिकामें यथाजातरूपधर निर्ग्रन्थ

शरीर, आहार आदि बाह्य निमित्त होते हैं अर्थात् दानके उपदेशमें प्रायः इसके द्वारा ही मोक्षमार्ग प्रवर्तता है—ऐसा निमित्तसे कहा जाता है। वास्तवमें कोई आहार या शरीरसे मोक्षमार्ग टिकता है—ऐसा नहीं बताना है। अरे, मोक्षमार्गके टिकनेमें जहाँ महाव्रत आदिके शुभरागका सहारा नहीं वहां शरीर और आहारकी क्या बात ? इसके आधारसे मोक्षमार्ग कहना वह सब निमित्तका कथन है। यहाँ तो आहारदान देनेमें धर्मी जीव—श्रावकका ध्येय कहाँ है ? वह बतलाना है। दान आदिके शुभभावके समय हो धर्मी गृहस्थको अन्तरमें मोक्षमार्गका बहुमान है; पुण्यका बहुमान नहीं, बाह्यक्रियाका कर्तव्य नहीं, परन्तु मोक्षमार्गका ही बहुमान है कि अहो, धन्य ये सन्त ! धन्य आजका दिन कि मेरे आँगनमें मोक्षमार्गी मुनिराज पधारे ! आज तो जीता-जागता मोक्षमार्ग मेरे आँगनमें आया। अहो, धन्य यह मोक्षमार्ग ! ऐसे मोक्षमार्गी मुनिको देखते ही श्रावकका हृदय बहुमानसे उछल उठता है, मुनिके प्रति उसे अत्यन्त भक्ति और प्रमोद उत्पन्न होता है। "साचुं रे सगपण साधर्मीतणुं"—अन्य लौकिक सम्बन्धकी अपेक्षा उसे धर्मात्माके प्रति विशेष उल्लास आता है। मोही जीवको स्त्री-पुत्र-भाई-बहिन आदिके प्रति प्रेमरूप भक्ति आती है वह तो पापभक्ति है, धर्मी जीवको देव-गुरु-धर्मात्माके प्रति परम प्रीतिरूप भक्ति उछल उठती है, वह पुण्यका कारण है और उसमें वीतरागविज्ञानमय धर्मके प्रेमका पोषण होता है। जिसे धर्मीके प्रति भक्ति नहीं उसे धर्मके प्रति भी भक्ति नहीं, क्योंकि धर्मीके बिना धर्म नहीं होता। जिसे धर्मका प्रेम हो उसे धर्मात्माके प्रति उल्लास आये बिना नहीं रहता।

सीताजीके विरहमें रामचन्द्रजीकी चेष्टा साधारण लोगोंको तो पागल जैसी लगे, परन्तु उनका अन्तरंग कुछ भिन्न ही था। अहो, सीता मेरी सहधर्मिणी ! उसके हृदयमें धर्मका वास है, उसे आत्मज्ञान वर्त रहा है; वह कहाँ होगी ? इस जंगलमें उसका क्या हुआ होगा ? इस प्रकार साधर्मीपनेके कारण रामचन्द्रजीको सीताके हरणसे विशेष दुःख आया था। अरे, यह धर्मात्मा देव-गुरुकी परम भक्त, इसे मेरा वियोग हुआ, मुझे ऐसी धर्मात्मा-साधर्मीका विछोह हुआ,—ऐसे धर्मकी प्रधानताका विरह है। परन्तु ज्ञानीके हृदयको संयोगकी ओरसे देखने वाले मूढ़ जीव परख नहीं सकते।

धर्मी—श्रावक अन्य धर्मात्माको देखकर आनन्दित होते हैं और बहुमानसे आहारदान आदिका भाव आता है; उसका यह वर्णन चल रहा है। मुनिको तो कोई शरीर पर राग नहीं है, वे चैतन्यसाधनामें लीन हैं; और जब कभी देहकी स्थिरताके लिये आहारकी वृत्ति उठती है तब आहारके लिये नगरीमें पधारते हैं। ऐसे मुनिको देखते

गृहस्थको ऐसे भाव आते हैं कि अहो ! रत्नत्रयको साधनेवाले इन मुनिको शरीरकी अनुकूलता रहे ऐसा आहार-औषध देऊँ जिससे ये रत्नत्रयको निर्विघ्न साधें। इस प्रकार व्यवहारसे शरीरको धर्मका साधन कहा है और उस शरीरका निमित्त अन्न है; अर्थात् वास्तवमें तो आहारदान देनेके पीछे गृहस्थकी भावना परम्परासे रत्नत्रयके पोषणकी ही है, इसका लक्ष्य रत्नत्रय पर है। और उस भक्तिके साथ उपजे आत्मामें रत्नत्रयकी भावना पुष्ट करता है। श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी जैसे भी परमभक्तिसे मुनियों को आहार देते थे ।

मुनियोंके आहारकी विशेष विधि है। मुनि जहाँ-तहाँ आहार नहीं करते। वे जैनधर्मकी श्रद्धावाले श्रावकके यहां ही नवधाभक्ति आदि विधिपूर्वक आहार करते हैं। श्रावकके यहाँ भी बुलाये बिना (-भक्तिसे पड़गाहन--निमंत्रण किये बिना) मुनि आहारके लिये नहीं पधारते। और पीछे श्रावक अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक नौ प्रकार भक्तिसे निर्दोष आहार मुनिके हाथमें देते हैं। (*१-प्रतिग्रहण अर्थात् आदरपूर्वक निमंत्रण, २-उच्च आसन,* ३-पाद-प्रक्षालन, ४-पूजन-स्तुति, ५-प्रणाम, ६-मनशुद्धि, ७-वचनशुद्धि, ८-कायशुद्धि और ९-आहारशुद्धि—ऐसी नवधाभक्तिपूर्वक श्रावक आहारदान दे।) जिस दिन मुनिके आहार-दानका प्रसंग अपने आँगनमें हो उस दिन उस श्रावकके आनन्दका पार नहीं होता। श्रीराम और सीता जैसे भी जंगलमें मुनिको भक्तिसे आहारदान करते हैं उस समय एक गृद्धपक्षी (-जटायु) भी उसे देखकर उसकी अनुमोदना करता है और उसे जातिस्मरण-ज्ञान होता है। श्रेयांसकुमारने जब ऋषभमुनिको प्रथम आहारदान दिया तब भरत चक्रवर्ती उसे धन्यवाद देने उसके घर गये थे। यहाँ मुनिकी उत्कृष्ट बात ली, उसी प्रकार अन्य साधर्मी श्रावक धर्मात्माके प्रति भी आहारदान आदिका भाव धर्मीको होता है। ऐसे शुभभाव श्रावककी भूमिकामें होते हैं इसलिए उसे श्रावकका धर्म कहा है; तो भी उसकी मर्यादा कितनी ?—कि पुण्यबन्ध हो इतनी; इससे अधिक नहीं। दानकी महिमाका वर्णन करते हुए उपचारसे ऐसा भी कहा है कि मुनिको आहारदान श्रावकको मोक्षका कारण है;—वहाँ वास्तवमें तो श्रावकको उस समयमें जो पूर्णताके लक्ष्से सम्यक् श्रद्धाज्ञान वर्तता है वही मोक्षका कारण है, राग कहीं मोक्षका कारण नहीं—ऐसा समझना।

सब जीवोंको सुख चाहिये।

पूर्ण सुख मोक्षदशामें है।

❀ मोक्षका कारण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

❀ यह रत्नत्रय निर्ग्रंथ मुनिको होता है।

❀ मुनिका शरीर आहारादिके निमित्तसे टिकता है।
❀ आहारका निमित्त गृहस्थ-श्रावक है।
❀ इसलिये परम्परासे गृहस्थ मोक्षमार्गका कारण है।

जिस श्रावकने मुनिको भक्तिसे आहारदान दिया उसने मोक्षमार्ग टिकाया, ऐसा परम्परा निमित्त अपेक्षासे कहा है। परन्तु इसमें आहार लेनेवाला और देनेवाला दोनों सम्यग्दर्शन सहित हैं, दोनोंको रागका निषेध और पूर्ण विज्ञानघनस्वभावका आदर वर्तता है। आहारदान देनेवालेको भी सत्पात्र और कुपात्रका विवेक है। चाहे जैसे मिथ्यादृष्टि अन्य लिंगीको गुरु मानकर आदर करे उसमें तो मिथ्यात्वकी पुष्टि होती है।

धर्मी श्रावकको तो मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिका प्रेम है। सुख तो मोक्षदशामें है ऐसा उसने जाना है अर्थात् उसे कहीं सुखबुद्धि नहीं है। रत्नत्रयधारी दिगम्बर मुनि ऐसे मोक्ष सुखको साध रहे हैं, इससे मोक्षाभिलाषी जीवको ऐसे मोक्षसाधक मुनिके प्रति परम उल्लास, भक्ति और अनुमोदना आती है; वहां आहारदान आदिके प्रसंग सहज ही बन जाते हैं।

देखो, यहां तो श्रावक ऐसा है कि जिसे मोक्षदशामें ही सुख भासित हुआ है, संसारमें अर्थात् पुण्यमें—रागमें—संयोगमें कहीं सुख नहीं भासता। जिसे पुण्यमें मिठास लगे, रागमें सुख लगे, उसे मोक्षके अतीन्द्रियसुखकी प्रतीति नहीं, और मोक्षमार्गी मुनिवरके प्रति उसे सच्ची भक्ति उल्लसित नहीं होती। मोक्षसुख तो रागरहित है, उसे पहचाने बिना रागको सुखका कारण माने उसे मोक्षकी अथवा मोक्षमार्गी संतोंकी पहचान नहीं। और पहचान बिनाकी भक्तिको सच्ची भक्ति नहीं कही जाती।

मुनिको आहार देनेवाले श्रावकका लक्ष मोक्षमार्ग पर है कि अहो! ये धर्मात्मा मुनिराज मोक्षमार्गको साध रहे हैं। वह मोक्षमार्गके बहुमानसे और उसकी पुष्टिकी भावनासे आहारदान देता है इससे उसे मोक्षमार्ग टिकानेकी भावना है और अपनेमें भी वैसा ही मोक्षमार्ग प्रगट करनेकी भावना है इसलिये कहा है कि आहारदान देनेवाले श्रावक द्वारा मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होती है। जैसे बहुत बार संघ जिमाने वालेको ऐसी भावना होती है कि इसमें कोई जीव बाकी नहीं रहना चाहिये; क्योंकि इसमें कदाचित् कोई जीव तीर्थंकर होनेवाला हो तो! इस प्रकार जिमानेमें उसे अव्यक्तरूपसे तीर्थंकर आदिके बहुमानका भाव है। इसीप्रकार यहाँ मुनिको आहर देनेवाले श्रावकको दृष्टि मोक्षमार्ग पर है, आहार देऊं और पुण्य बंधे-इस पर उसका लक्ष नहीं। इसका एक दृष्टान्त आता है कि कोई ने भक्तिसे एक मुनिराजको आहारदान दिया और उसके आँगनमें रत्नवृष्टि हुई, दूसरा कोई

लोभी मनुष्य ऐसा विचारने लगा कि मैं भी इन मुनिराजको आहारदान दूँ जिससे मेरे घर रत्नोंकी वृष्टि होगी।—देखो, इस भावनामें तो लोभका पोषण है। श्रावकको ऐसी भावना नहीं होती; श्रावकको तो मोक्षमार्गके पोषणकी भावना है कि अहो! चैतन्यके अनुभवसे जैसा मोक्षमार्ग मुनिराज साध रहे हैं वैसा मोक्षमार्ग मैं भी साधूँ—ऐसी मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिकी भावना उसे वर्तती है। इसलिये इस क्लिष्ट कालमें भी प्रायः ऐसे श्रावकों द्वारा मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति है—ऐसा कहा जाता है।

अन्दर में शुद्धदृष्टि तो है, रागसे पृथक् चैतन्यका वेदन हुआ है, वहाँ श्रावकको ऐसे शुभभाव आये उसके फलसे वह मोक्षफलको साधता है ऐसा भी उपचारसे कहा जाता है, परन्तु वास्तवमें उस समय अन्तरमें जो रागसे परे दृष्टि पड़ी है वही मोक्षको साध रही है। (प्रवचनसार गाथा २५४ में भी इसी अपेक्षा वात की है।) अन्तर्दृष्टिको समझे विना मात्र रागसे वास्तविक मोक्ष प्राप्ति मान ले तो उसे शास्त्रके अर्थकी अथवा सन्तोंके हृदयकी खवर नहीं है, मोक्षमार्गका स्वरूप वह नहीं जानता। यह अधिकार ही व्यवहारकी मुख्यतासे है; इसलिये इसमें तो व्यवहार-कथन होगा; अन्तर्दृष्टिको परमार्थ लक्ष्यमें रखकर समझना चाहिये।
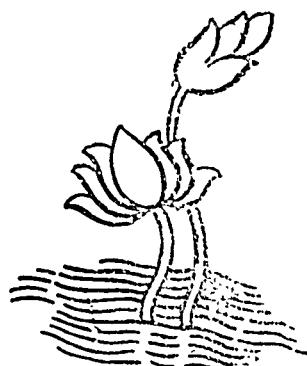
एक ओर जोरशोरसे भार देकर ऐसा कहा जाता है कि भूतार्थस्वभाव के आश्रयसे ही धर्म होता है, और यहाँ कहा कि आहार या शरीरके निमित्तसे धर्म टिकता है;—तो भी उसमें कोई परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि पहला परमार्थकथन है और दूसरा उपचारकथन है। मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति प्रायः गृहस्थ द्वारा दिये हुए दानसे चलती है, इसमें प्रायः शब्द यह सूचित करता है कि यह नियमरूप नहीं है, जहाँ शुद्धात्माके आश्रयसे मोक्षमार्ग टिके वहां आहारादिको निमित्त कहा जाता है,—अर्थात् यह तो उपचार ही हुआ। शुद्धात्माके आश्रयसे मोक्षमार्ग टिकता है—यह नियमरूप सिद्धान्त है, इसके विना मोक्षमार्ग हो नहीं सकता।

सुख अर्थात् मोक्ष; आत्मकी मोक्षदशा ही सुख है, इसके अलावा मकानमें, पैसेमें, रागमें,—कहीं सुख नहीं, धर्मीको आत्मा सिवाय कहीं सुखवुद्धि नहीं है। चैतन्यके वाहर किसी प्रवृत्तिमें कहीं सुख है ही नहीं। आत्माके मुक्तस्वभावके अनुभवमें सुख है। सम्यग्दृष्टिने ऐसी आत्माका निश्चय किया है, उसके सुखका स्वाद चखा है। और जो उग्र अनुभव द्वारा मोक्षको साक्षात् साध रहे हैं ऐसे मुनिके प्रति अत्यन्त उल्लाससे और भक्तिसे वह आहारदान देता है।

आनन्दस्वरूप आत्मामें श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता मोक्षका कारण है और वीचके व्रतादि

शुभपरिणाम पुण्यबन्धके कारण हैं। आत्माके आनन्दस्वभावको जानकर उसमें जो मग्न हैं ऐसे नग्नमुनि रत्नत्रयको साध रहे हैं, उसके निमित्तरूप देह है और देहके टिकनेका कारण आहार है; इसलिये जिसने भक्तिसे मुनिको आहार दिया उसने मोक्षमार्ग दिया अर्थात् उसके भावमें मोक्षमार्ग टिकनेका आदर हुआ। इस प्रकार भक्तिसे आहारदान देनेवाला श्रावक इस दुःषम् कालमें मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिका कारण है। धर्मात्मा-श्रावक ऐसा समझकर मुनि आदि सत्पात्रको रोज भक्तिसे दान देता है। अहो, मेरे घर कोई धर्मात्मा संत पधारें, ज्ञान-ध्यानमें अतीन्द्रिय-आनन्दका भोजन करनेवाले कोई संत मेरे घर पधारें, तो भक्तिसे उन्हें भोजन कराकर पीछे मैं भोजन करूँ। ऐसा भाव गृहस्थ-श्रावकको रोज-रोज आता है। ऋषभदेवके जीवने पूर्वके आठवें भवमें मुनिवरोंको परम-भक्तिसे आहारदान दिया था, और तिर्यंचोंने भी उसका अनुमोदन करके उत्तम फल प्राप्त किया था, यह बात पुराणोंमें प्रसिद्ध है। श्रेयांसकुमारने आदिनाथ मुनिराजको आहारदान दिया था।—ये सब प्रसंग प्रसिद्ध हैं।

इस प्रकार चार प्रकारके दानमेंसे आहारदानकी चर्चा की, अब दूसरे औषधि-दानका उपदेश देते हैं।

देखिये, यहाँ दानमें सामने सत्पात्ररूप मुख्यतः मुनिको लिया है, अर्थात् धर्मके लक्ष्यपूर्वक दानकी इसमें मुख्यता है। दान करनेवालेकी दृष्टि मोक्षमार्ग पर लगी है। शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञानके कपाट खोल रहे मुनिवर देहके प्रति निर्मम होते हैं। परन्तु श्रावक भक्तिपूर्वक ध्यान रखकर निर्दोष आहारके साथ निर्दोष औषधि भी देता है। मुनिको तो चैतन्यके अमृतसागरमेंसे आनन्दकी लहरें उछली है, उन्हें ठंड-गर्मी अथवा देहकी रक्षाका लक्ष्य कहाँ है!

श्रावक मुनि आदिको औषदान दे—यह कहते हैं—

स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते
साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण संभाव्यते ।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्र भारक्षमं
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशमिनां धर्मो गृहस्थोत्तमात् ॥८॥

इच्छानुसार आहार-विहार और सम्भाषण द्वारा शरीर निरोग रहता है, परन्तु मुनियोंको तो इच्छानुसार भोजनादि नहीं होता इसलिए उनका शरीर प्रायः अशक्त ही रहता है! परन्तु उत्तम गृहस्थ योग्य औषधि तथा पथ्य भोजन-पानी द्वारा मुनियोंके शरीरको चारित्रपालन हेतु समर्थ बनाता है। इस प्रकार मुनि-धर्मकी प्रवृत्ति उत्तम श्रावक द्वारा होती है। अतः धर्मी गृहस्थोंको ऐसे दानधर्मका पालन करना चाहिये।

जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञानके कपाट खोल रहे हैं ऐसे मुनिराज शरीरसे भी अत्यन्त उदासीन होते हैं, वे वन-जंगलमें रहते हैं ठंडमें ओना अथवा गर्मीमें स्नान करना उन्हें नहीं होता, रोगादि हो तो भी औषधि

नहीं लेते, दिनमें एकबार आहार लेते हैं, उसमें भी कोई बार ठंडा आहार मिलता है; कोई समय तीव्र गर्मीमें गरम आहार मिलता है, इस प्रकार इच्छानुसार आहार उनको नहीं मिलता, अतः मुनिको कई बार रोग—निर्बलता आदि हो जाती है, परन्तु ऐसे प्रसंगमें धर्मात्मा उत्तम श्रावक मुनिका ध्यान रखते हैं, उनको रोग वगैरह हुआ हो तो उसे जानकर, आहारके समय आहारके साथ निर्दोष औषधि भी देते हैं, तथा ऋतु अनुसार योग्य आहार देते हैं। इस प्रकार भक्तिपूर्वक श्रावक मुनिका ध्यान रखते हैं। यहाँ उत्कृष्टरूपसे मुनिकी बात ली है। इससे यह न समझना कि मुनिको छोड़कर अन्य जीवोंको आहार अथवा औषध दान देनेका निषेध है। श्रावक अन्य जीवोंको भी उनकी भूमिकाके योग्य आदरसे अथवा करुणाबुद्धिसे योग्य दान दे। परन्तु धर्मप्रसंगकी मुख्यता है, वहां धर्मात्माको देखते ही विशेष उल्लास आता है। मुनि उत्तम पात्र हैं इस कारण उनकी मुख्यता है।

अहो! मुनिदशा क्या है—उसकी जगतको खबर नहीं है। छोटा-सा राजकुमार हो और मुनि होकर चैतन्यको साधता हो, चैतन्यके अतीन्द्रिय आनन्दका प्रचुर स्वसंवेदन जिसको प्रगट हुआ हो ऐसे मुनि देहसे तो अत्यन्त उदासीन है।

सर्व भावथी औदासिन्य वृत्ति करी,
मात्र देह ते संयम हेतु होय जो।

चाहे जितनी ठंड हो परन्तु देह सिवाय अन्य परिग्रह जिसे नहीं, बाह्यदृष्टि वाले जीवोंको लगता है कि ऐसा मुनि बहुत दुःखी होगा। अरे भाई, उनके अन्तरमें तो आनन्दकी धारायें बहती हैं,—कि जिस आनन्दकी कल्पना भी तुझे नहीं आ सकती। चैतन्यकी इस आनन्दकी अभिलाषामें ठंड-गर्मीका लक्ष्य ही कहां है? जिस प्रकार मध्य-बिन्दुसे सागर उछलता है उसी प्रकार चैतन्यके अन्तरके मध्यमेंसे मुनिको आनन्दकी लहरें उछलती हैं। ऐसे मुनिको रोगादि हावे तो भक्तिपूर्वक ध्यान रखकर उत्तम गृहस्थ पथ्य आहारके साथ योग्य औषधि भी देते हैं—इसका नाम साधु वैयावृत्य है; वह गुरुभक्तिका एक प्रकार है। श्रावकके कर्तव्यमें पहले देव पूजा और दूसरी गुरु उपासना कहीं, उसमें इस प्रकारके भाव श्रावकको होते हैं। मुनि स्वयं तो बोलते नहीं कि मुझे ऐसा रोग हुआ है, अतः ऐसी खुराक अथवा ऐसी दवा दो, परन्तु भक्तिवान श्रावक इसका ध्यान रखते हैं।

देखिये! इसमें मात्र शुभरागकी बात नहीं, परन्तु सर्वज्ञकी श्रद्धा और सम्यग्दर्शन

कैसे हो वह पहले बताया गया है, ऐसी श्रद्धापूर्वक श्रावकधर्मकी यह बात है जहाँ श्रद्धा ही सच्ची नहीं और कुदेव, कुगुरुका सेवन होता है वहाँ तो श्रावकधर्म नहीं होता। श्रावकको मुनि आदि धर्मात्माके प्रति कैसा प्रेम होता है वह यहां बताना है। जिस प्रकार अपने शरीरमें रोगादि होने पर दवा करवानेका राग होता है, तो मुनि इत्यादि धर्मात्माके प्रति भी धर्मीको वात्सल्यभावसे औषधिदानका भाव आता है। गृहस्थ प्यारे पुत्रको रोगादि होने पर उसका कैसे ध्यान रखते हैं! तो धर्मीको तो सबसे प्रिय मुनि आदि धर्मात्मा हैं, उनके प्रति उसे आहारदान-औषधिदान-शास्त्रदान इत्यादिका भाव आये बिना नहीं रहता। यहाँ कोई दवासे शरीर अच्छा रहता है अथवा शरीरसे धर्म टिकता है—ऐसा सिद्धान्त नहीं स्थापना है, परन्तु धर्मीको राग किस प्रकार होता है वह बताना है। जिसे धर्मकी अपेक्षा संसारकी तरफका प्रेम अधिक रहे वह धर्मी कैसा? संसारमें जीव स्त्री-पुत्र आदिकी वर्षगांठ, लग्न-प्रसंग आदिके बहाने रागकी पुष्टि करता है,—वह तो अशुभभाव है तो भी पुष्टि करता है, तो जिसे धर्मका रंग है वह धर्मीके जन्मकल्याणक, मोक्षकल्याणक, कोई यात्रा-प्रसंग, भक्ति-प्रसंग, ज्ञान-प्रसंग—आदिके बहाने धर्मका उत्साह व्यक्त करता है। शुभके अनेक प्रकारोंमें औषधिदानका प्रकार श्रावकको होता है, उसकी बात की। अब तीसरा ज्ञानदान है उसका वर्णन करते हैं।

हे श्रावक!

यह भवदुःख तुझे प्रिय न लगता हो और स्वभावसुखका अनुभव तू चाहता हो, तो तेरे ध्येयकी दिशा पलट दे; जगतसे उदास होकर अन्तरमें चैतन्यको ध्यानसे तुझे परम आनन्द प्रगट होगा और भवकी लता क्षणमें टूट जावेगी। आनन्दकारी परमआराध्य चैतन्यदेव तेरेमें ही विराज रहा है।

[१०]

ज्ञानदान अथवा शास्त्रदानका वर्णन

कुन्दकुन्दाचार्यके जीवने पूर्वमें ग्वालेके भवमें भक्तिपूर्वक मुनिको शास्त्र दिया था—वह उदाहरण शास्त्रदानके लिये प्रसिद्ध है। देखो, इस ज्ञानदानकी बड़ी महिमा है। जिसने सच्चे शास्त्रकी पहचान की है और स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है उसे गुरुवाणीका जगतमें प्रचार हो और जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके अपना हित करें। ज्ञानके बहुमानपूर्वक शास्त्रदान द्वारा ज्ञानका बहुत क्षयोपशम-भाव प्रगट होता है।

ज्ञानदानकी महिमा और उसका महान फल केवलज्ञान बताते हैं—

व्याख्या पुस्तकदानमुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः।
सिद्धस्मिन जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्य-लोकोत्सवः
श्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत् कैवल्यभाजो जनाः ॥ १० ॥

सर्वज्ञदेवके कहे हुए शास्त्रों का भक्तिपूर्वक व्याख्यान करना तथा विशाल बुद्धिवाले जीवोंको स्वाध्याय हेतु पुस्तक देना उसे ज्ञानीजन शास्त्रदान या ज्ञानदान कहते हैं। ऐसे ज्ञानदानका फल क्या ? तो कहते हैं कि ऐसे ज्ञानदान द्वारा भव्य जीव थोड़े ही भावोंमें, तीन लोकको आनन्दकारी अर्थात् समवशरण आदि लक्ष्मीको करने वाली, और लोकके समस्त पदार्थोंको हस्तरेखा समान देखने वाली ऐसी केवलज्ञानज्योति प्राप्त करता है; अर्थात् तीर्थंकर-पद सहित केवलज्ञानको प्राप्त करता है, ज्ञानकी आराधनाका जो भाव है उसके फलमें केवलज्ञान प्राप्त होता है और बीचमें ज्ञानके बहुमानका, धर्मीके बहुमानका जो शुभभाव है उससे तीर्थंकर-पद आदि मिलता है। इसलिये अपने हितको चाहने वाले श्रावकको हमेशा ज्ञानदान करना चाहिये।

देखो, इस ज्ञानदानकी महिमा ! सच्चे शास्त्र कौन हैं उनको जिसने पहचान की है और स्वयं सम्यग्ज्ञान प्रगट किया है उसे ऐसा भाव आता है कि अहो, ऐसी जिन-वाणीका जगत्‌में प्रचार हो और जीव सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके अपना हित करें। ऐसी ज्ञान-प्रचारकी भावनापूर्वक स्वयं शास्त्र लिखे; लिखावे, पढ़े, प्रसिद्ध करे, लोगोंको सरलतासे शास्त्र मिलें—ऐसा करे,—ऐसे ज्ञानदानका भाव धर्मी जीवको आता है, धर्म-जिज्ञासुको भी ऐसा भाव आता है।

ज्ञानदानमें स्वयंके ज्ञानका बहुमान पुष्ट होता है। वहाँ किसी सम्यग्दृष्टि जीवको ऐसा ऊँचा पुण्य बँधता है कि वह तीर्थंकर होता है, और समवशरणमें दिव्यध्वनि खिरती है, इस दिव्यध्वनिको झेलकर बहुतसे जीव धर्म प्राप्त करते हैं ! "अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग" अर्थात् ज्ञानके तीव्र रससे बारम्बार उसमें उपयोग लगाना उसे भी तीर्थंकर-प्रकृतिका कारण कहा है। परन्तु ऐसे भाव वास्तवमें किसे होते हैं ? ज्ञानस्वरूप आत्माको जानकर जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया हो अर्थात् स्वयं धर्म प्राप्त किया हो उसे ही ज्ञानदान या अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग यथार्थरूपसे होता है। सच्चा मार्ग जिसने जान लिया है ऐसे श्रावकके धर्मकी यह बात है। सम्यग्दर्शन बिना तो व्रत-दान आदि शुभ करते हुए भी वह अनादिसे संसारमें परिभ्रमण कर रहा है। यहाँ तो भेदज्ञान प्रगट कर जो मोक्षमार्गमें आरूढ़ है ऐसे जीवकी बात है। जिसने स्वयं ही ज्ञान नहीं पाया वह अन्यको ज्ञानदान क्या करेगा ? ज्ञानके निर्णय बिना शास्त्र आदिके बहुमानसे पुस्तक आदिका दान करे उसमें मोक्षमार्ग बिना पुण्य बँधता है, परन्तु यहां श्रावक-धर्ममें तो मोक्षमार्ग सहित दानादिकी प्रधानता है; अर्थात् सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति तो प्रथम करनी चाहिये, उसके बिना मोक्षमार्ग नहीं होता। ज्ञानदान—शास्त्रदान करनेवाले श्रावकको सत्‌शास्त्र और कुशास्त्रके बीच विवेक है। सर्वज्ञकी वाणी झेलकर गणधरादि सन्तों द्वारा रचे हुए वीतरागी शास्त्रोंको पहिचान कर उनका दान और प्रचार करे; परन्तु मिथ्यादृष्टियोंके रचे हुए, तत्त्वविरुद्ध, कुमार्गका पोषण करनेवाले ऐसे कुशास्त्रोंको वह नहीं माने, उनका दान या प्रचार नहीं करे। अनेकान्तमय सत्‌शास्त्रको पहचानकर उनका ही दानादि करे।

संयोग और अशुद्धताकी रुचि छोड़कर अपने चिदानन्दस्वभावकी दृष्टि-रुचि-प्रीति करना वह सम्यग्दर्शन है, वह धर्मकी पहली वस्तु है, उसके बिना पुण्य बँधता है परन्तु कल्याण नहीं होता, मोक्षमार्ग नहीं होता। पुण्यकी रुचिमें रुका, पुण्यके विकल्प में कर्तृत्वबुद्धिसे तन्मय होकर रुका उसे पुण्यके साथ-साथ मिथ्यात्वका पाप भी बँधता है। पंडित श्री टोडरमलजी मोक्षमार्ग प्रकाशके छठवें अध्यायमें कहते हैं कि—

लाभ हुआ हो ऐसा नहीं है, और धर्मीको कदाचित् वाणीका योग कम हो (–मूक केवली भगवानकी तरह वाणीका योग न भी हो) तो उससे कोई उसके अन्तरका लाभ रुक जावे ऐसा नहीं। बाह्यमें अन्य जीव समझे इस परसे धर्मीका जो माप करना चाहते हैं उन्हें धर्मीकी अन्तरदशाकी पहचान नहीं।

यहाँ ज्ञानदानमें तो यह बात है कि स्वयंको ऐसा भाव होता है कि अन्य जीव भी सच्चे ज्ञानको प्राप्त करें, परन्तु अन्य जीव समझें या न समझें यह उनकी योग्यता पर है, उनके साथ इसे कोई लेना-देना नहीं है। स्वयंको पहले अज्ञान था और महादुःख था, वह दूर होकर स्वयंको सम्यग्ज्ञान हुआ और अपूर्व सुख प्रगट हुआ अर्थात् स्वयंको सम्यग्ज्ञानकी महिमा भासी है, इससे अन्य जीव भी ऐसे सम्यग्ज्ञानको प्राप्त हों तो उनका दुःख मिटे और सुख प्रगटे—इस प्रकार धर्मीको अन्तरमें ज्ञानकी प्रभावनाका भाव आता है और साथमें उसी समय अन्तरमें शुद्धात्माकी भावनासे ज्ञानकी प्र-भावना—उत्कृष्ट भावना और वृद्धि अन्तरमें हो रही है।

देखो, यह श्रावककी दशा ! ऐसी दशा हो तभी जैनको श्रावकपना कहलाता है, और मुनिदशा तो उसके पश्चात् होती है। उसने सर्वज्ञका और सर्वज्ञकी वाणीका स्वयं निर्णय किया है। जिसे स्वयं निर्णय नहीं वह सच्चे ज्ञानकी क्या प्रभावना करेगा ? यह तो अपने ज्ञानमें निर्णय सहित धर्मात्माकी बात है। और धर्मात्माको, विशेष बुद्धिमानको बहुमानपूर्वक शास्त्र देना वह भी ज्ञानदान है, शास्त्रोंका सच्चा अर्थ समझना, प्रसिद्ध करना वह भी ज्ञानदानका भेद है। किसी साधारण मनुष्यको ज्ञानका विशेष प्रेम हो और उसे शास्त्र न मिलते हों तो धर्मी उसे प्रेमपूर्वक प्रबन्ध कर दे।–ऐसा भाव धर्मीको आता है। अपने पास कोई शास्त्र हो और दूसरेके पास न हो वहां, अन्य पढ़ेगा तो मुझसे आगे बढ़ जायेगा, मेरा समझना कम हो जावेगा—ऐसी ईर्षावश या मानवश, शास्त्र पढ़नेको माँगे और वह न दे–ऐसे जीवको ज्ञानका सच्चा प्रेम नहीं और शुभभावका भी ठिकाना नहीं। भाई, अन्य जीव ज्ञानमें आगे बढ़ता हो तो भले बढ़े; तुझे उसका अनुमोदन करना चाहिये। तुझे ज्ञानका प्रेम हो तो, अन्य भी ज्ञान प्राप्त करे इसमें अनुमोदन हो कि ईर्षा हो ? अन्यके ज्ञानकी जो ईर्षा आती है तो तुझे शास्त्र पढ़-पढ़कर मानका पोषण करना है, तुझे ज्ञानका सच्चा प्रेम नहीं। ज्ञानप्रेमीको अन्यके ज्ञानकी ईर्षा नहीं होती परन्तु अनुमोदना होती है। एक जीव बहुत समयसे मुनि हो, दूसरा जीव पीछेसे अभी ही मुनि हुआ हो और शीघ्र केवलज्ञान प्राप्त कर ले, वहाँ पहले मुनिको ऐसी ईर्षा नहीं होती कि अरे, अभी तो आज ही दीक्षा ली और मुझसे पहले इसने केवलज्ञान प्राप्त कर

लिया! परन्तु उलटकर अनुमोदना आती है कि वाह ! धन्य है कि इसने केवलज्ञान साध लिया, मुझे भी यही इष्ट है, मुझे भी यही करना है......इस प्रकार अनुमोदना द्वारा अपने पुरुषार्थको जागृत करता है। ईर्षा करनेवाला तो अटकता है, और अनुमोदना करनेवाला अपने पुरुषार्थको जागृत करता है। अपने अन्तरंगमें जहाँ ज्ञानस्वभावका बहुमान है वहां रागके समय ज्ञानकी प्रभावनाका और अनुमोदनाका भाव आये बिना नहीं रहता। ज्ञानके बहुमान द्वारा वह थोड़े ही समयमें केवलज्ञान प्राप्त करेगा। रागका फल केवलज्ञान नहीं परन्तु ज्ञानके बहुमानका फल केवलज्ञान है। और साथमें शुभरागसे जो उत्तम पुण्यबन्ध है उसके फलमें समवशरण आदिकी रचना होगी और इन्द्र महोत्सव करेंगे। अभी यहां चाहे किसीको खबर न हो परन्तु केवलज्ञान होते ही तीनलोकमें आश्चर्यकारी हलचल हो जावेगी, इन्द्र महोत्सव करेंगे और तीनलोकमें आनन्द होगा।

अहो, यह तो वीतरागमार्ग है ! वीतरागका मार्ग तो वीतराग ही होता है ना ? वीतरागभाव की वृद्धि हो यही सच्ची मार्गप्रभावना है। रागको जो आदरणीय बतावे वह जीव वीतरागमार्गकी प्रभावना कैसे कर सकता है ? उसे तो रागकी ही भावना है। जैनधर्मके चारों अनुयोगोंके शास्त्रोंका तात्पर्य वीतरागता है। धर्मी जीव वीतरागी तात्पर्य बतलाकर चारों अनुयोगोंका प्रचार करे। प्रथमानुयोगमें तीर्थंकरादि महान् धर्मात्माओंके जीवनकी कथा, चरणानुयोगमें उनके आचरणका वर्णन, करणानुयोगमें गुणस्थान आदिका वर्णन और द्रव्यानुयोगमें अध्यात्मका वर्णन—इन चार प्रकारके शास्त्रोंमें वीतरागताका तात्पर्य है। इन शास्त्रोंका बहुमानपूर्वक स्वयं अभ्यास करे, प्रचार और प्रसार करे। जवाहरातके गहने या बहुमूल्य वस्त्र आदिको कैसे प्रेमसे घरमें सम्भालकर रखते हैं,—इसकी अपेक्षा विशेष प्रेमसे शास्त्रोंको घर में विराजमान करे, और सजा करके उनका बहुमान करे।—यह सब ज्ञानका ही विनय है।

शास्त्रदानके सम्बन्धमें कुन्दकुन्दस्वामीके पूर्वभवकी कथा प्रसिद्ध है, पूर्वभवमें वह एक सेठके यहां गायोंका ग्वाला था। एकबार उस ग्वालेको वनमें कोई शास्त्र मिला; उसने अत्यन्त बहुमानपूर्वक किन्हीं मुनिराजको वह शास्त्रदान किया। उस समय अव्यक्त-रूपसे ज्ञानकी अचिंत्य महिमाका कोई भाव पैदा हुआ, इससे वह उस सेठके घर ही जन्मा; छोटी उम्रमें ही मुनि हुआ और ज्ञानका अगाध समुद्र उनको उल्लसित हुआ। अहा, उन्होंने तो तीर्थंकर परमात्माकी दिव्यवाणी साक्षात् सुनी, और भरतक्षेत्रमें ज्ञानकी नहर चलाई। इनके अन्तरमें ज्ञानकी बहुत शुद्धि प्रगट हुई और बाह्यमें भी श्रुतकी महान् प्रतिष्ठा इस भरतक्षेत्रमें उन्होंने की। अहा, उनके निजवैभवकी क्या बात ! ज्ञानदानसे

अर्थात् ज्ञानके बहुमानके भावसे ज्ञानका क्षयोपशमभाव मिलता है, और यहाँ तो उसका उत्कृष्ट फल बतलाते हुए कहते हैं कि वह जीव थोड़े भवमें केवलज्ञान प्राप्त करेगा, उसे समवशरणकी शोभाकी रचना होगी और तीन लोकके जीव उसका बहुमान मनायेंगे। क्योंकि ज्ञानानन्दस्वभावके आराधना साथमें वर्तती है अर्थात् आराधकभावकी भूमिकामें ऐसा ऊँचा पुण्य बंधता है। उसमें धर्मीका लक्ष्य ज्ञानस्वभावकी आराधना पर है, राग अथवा पुण्य पर उसका लक्ष्य नहीं है वह तो बीजमें अनाजके साथके भूसेकी तरह सहज ही प्राप्त हो जाता है।

ज्ञानस्वभावकी आराधनासे धर्मी जीव सर्वज्ञपदको साधता है। उसे किसी समय ऐसा भी होता है कि, अरे! हम भगवानके पास होते; भगवानकी वाणी सुनते और भगवानसे प्रश्नोंका सीधा समाधान लेते, अब भरतक्षेत्रमें भगवानका विरह हुआ, किनसे प्रश्न पूछूँ और कौन समाधान करे? धर्मात्माको सर्वज्ञ परमात्माके विरहका ऐसा भाव आता है। भरत चक्रवर्ती जैसेको भी ऋषभदेव भगवान मोक्ष पधारे तब ऐसा विरहका भाव आया था। अन्तरंगमें निजके पूर्ण ज्ञानकी भावना है, कि अरे! इस पंचमकालमें अपने सर्वज्ञपदका हमको विरह! अर्थात् निमित्तमें भी सर्वज्ञका विरह सताता है। इस भरतक्षेत्रमें कुन्दकुन्दप्रभुको विचार आया-अरे नाथ! पंचमकालमें इस भरतक्षेत्रमें आपका विछोह हुआ, सर्वज्ञताका विरह हुआ....इस प्रकार सर्वज्ञके प्रति भक्तिका भाव उल्लसित हुआ, और वे चिंतवन करने लगे। वहाँ पुण्यका योग था और पात्रता भी विशेष थी, इससे सीमंधर भगवानके पास जानेका योग बना। अहा, भरतक्षेत्रका (जीव) मनुष्य शरीरसहित विदेहक्षेत्र गया, और भगवानसे मिलाप हुआ। भगवानकी दिव्यध्वनि साक्षात् श्रावण की और उन्होंने इस भरतक्षेत्रमें श्रुतज्ञानकी धारा बहाई। उन्हें आराधकभावका विशेष जोर और साथमें पुण्यका भी महान योग था। उन्होंने तो तीर्थंकर जैसा कार्य किया है।

आराधकका पुण्य लोकोत्तर होता है। तीर्थंकरके जीवको गर्भमें आनेके छह महीनेकी देर हो, अभी तो वह जीव (श्रेणिक आदि कोई) नरकमें हो अथवा स्वर्गमें हो; इधर तो इन्द्र-इन्द्राणी आकर उनके माता-पिताका बहुमान करते हैं कि धन्न रत्नकूँख धारिणी माता! छह महीने पश्चात् आपकी कूँखमें तीनलोकके नाथ तीर्थंकर आनेवाले हैं!—ऐसा बहुमान करते हैं, और जहाँ उनका जन्म होनेवाला हो वहां प्रतिदिन करोड़ों रत्नोंकी वृष्टि करते हैं। छह मास पूर्व नरकमें भी उस जीवको उपद्रव शांत हो जाते हैं। तीर्थंकर-प्रकृतिका उदय तो पीछे तेरहवें गुणस्थानमें केवलज्ञान होगा तब आवेगा, परन्तु

उसके पहले उसके साथ ऐसा पुण्य होता है। (यहाँ उत्कृष्ट पुण्यकी बात है; सभी आराधक जीवोंको ऐसा पुण्य होता है—ऐसा नहीं, परन्तु तीर्थंकर होनेवाले जीवको ही ऐसा पुण्य होता है।) यह सब तो अचिंत्य बात है। आत्माका स्वभाव भी अचिंत्य, और उसका जो आराधक हुआ उसका पुण्य भी अचिंत्य! ऐसी आत्माके लक्ष्यसे श्रावक-धर्मात्मा ज्ञानदान करता है, उसमें उसे रागका निषेध है और ज्ञानका आदर है, इसलिये वह केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर होगा, तीनलोकके जीव उसका उत्सव मनावेंगे और उसकी दिव्यध्वनिसे धर्मका निर्मल मार्ग चलेगा।

इस प्रकार ज्ञानदानका वर्णन किया।

❋ जो जैन हुआ वह जिनदेवके सिवा अन्य मार्गको नहीं मानता ❋

सम्यग्दर्शन होने पर धर्मीको सिद्ध समान अपना शुद्ध आत्मा श्रद्धा-ज्ञान एवं स्वानुभवमें स्पष्ट आ जाता है; तबसे उसकी गति-परिणति विभावोंसे विमुख होकर सिद्ध-पदकी ओर चलने लगी, वह मोक्षमार्गी हुआ। पश्चात् ज्यों-ज्यों शुद्धता और स्थिरता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों श्रावकधर्म और मुनिधर्म प्रगट होता है। श्रावकपना तथा मुनिपना तो आत्माकी शुद्धदशामें रहते हैं, वह कोई बाहरकी वस्तु नहीं है। जैनधर्ममें तीर्थंकरदेवने मोक्षमार्ग कैसा कहा है उसकी खबर न हो, और विपरीतमार्गमें जहां-तहां मस्तक झुकाता हो—ऐसे जीवको जैनत्व या श्रावकत्व नहीं होता। जैन हुआ वह जिनवर-देवके मार्गके सिवा अन्यको स्वप्नमें भी नहीं मानता।

कोई कहे कि आत्मा एकान्त शुद्ध है और उसे विकार या कर्मका कोई सम्बन्ध है ही नहीं,—तो वह बात यथार्थ नहीं है। आत्मा द्रव्यस्वभावसे शुद्ध है परन्तु पर्यायमें उसे विकार भी है; वह विकार अपनी भूलसे है और स्वभावकी प्रतीति द्वारा वह दूर हो सकता है तथा शुद्धता हो सकती है। विकारभावमें अजीवकर्म निमित्त हैं, विकार टलने पर वे निमित्त भी छूट जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य-पर्याय, शुद्धता-अशुद्धता, निमित्त-इन सबका ज्ञान बराबर करना चाहिये। उन्हें जानकर शुद्ध आत्माकी दृष्टि करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है।

[१२]

श्रावकको दानका फल

धर्मात्माको शुद्धताके साथ रहनेवाले शुभभावसे ऊँचा पुण्य बँधता है, परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्माकी शुद्धताको साधने पर है। जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करे और मात्र शुभरागसे ही मोक्ष होना मानकर उसमें अटका रहे तो वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता...सामनेका जीव धर्मकी आराधना कर रहा हो उसे देखकर धर्मीको उसके प्रति प्रमोद आता है क्योंकि उसे स्वयंको आराधनाका तीव्र प्रेम है।

सर्वज्ञकथित वस्तुस्वरूपका निर्णय करके जिसने सम्यग्दर्शन प्रगट किया है, उसके पश्चात् मुनिदशाकी भावना होते हुए भी जो अभी महाव्रत अंगीकार नहीं कर सकता इसलिये श्रावकधर्मरूप देशव्रतका पालन करता है, ऐसे जीवको आहारदान-औषधदान-शास्त्रदान-अभयदान-इन चार प्रकारके दानके भाव आते हैं उनका वर्णन किया। अब दानका फल बतलाते हैं—

आहारात्सुखितौषधादतितरां निरोगता जायते
शास्त्रात्पात्र निवोदितात्परभवे पाण्डित्यमत्यद्भुतम्।
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकरः पुसोऽभयात्दानतः
पर्यन्ते पुनरोन्नतोन्नतपद प्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः ॥१२॥

उत्तम आदि पात्रोंको आहारदान देनेसे परभवमें स्वर्गादि सुखकी प्राप्ति होती है, औषधिदानसे अतिशय निरोगता और सुन्दर रूप मिलता है, शास्त्रदानसे अत्यन्त अद्भुत पाण्डित्य होता है और अभयदानसे जीवको इन सब गुणोंका परिवार प्राप्त होता है; तथा क्रम-क्रमसे ऊँचे पदोंको प्राप्त कर वह मोक्ष प्राप्त करता है।

देखो, यह दानका फल। श्रावकधर्मके मूलमें जो सम्यग्दर्शन है उसे लक्ष्यमें रखकर यह बात समझनी है। सम्यक्त्वकी भूमिकामें दानादि शुभभावोंसे ऐसा उत्कृष्ट पुण्य बँधता है कि इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद आदि प्राप्त होते हैं; और उस पुण्यफलमें हेयबुद्धि है इसलिये वह रागको छोड़कर, वीतराग होकर मोक्ष प्राप्त करेगा। इस अपेक्षासे उपचार करके दानके फलसे आराधक जीवको मोक्षकी प्राप्ति कही। परन्तु जो जीव सम्यग्दर्शन प्रगट न करे और मात्र शुभरागसे ही मोक्ष होना मानकर उनमें रुक जावे, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता। दानके फल-स्वरूप पुण्यसे स्वर्गके सुख, निरोग-रूपवान शरीर, चक्रवर्तीपदका वैभव आदि मिले उसमें ज्ञानीको कोई सुखबुद्धि नहीं, अन्तरके चैतन्यसुखको प्रतीति और अनुभवमें लिया है, इसके अतिरिक्त अन्य कहीं पर उसे सुख नहीं भासता। दानके फलमें किसीको ऐसी ऋद्धि प्रगट हो कि उसके शरीरके स्नानका पानी छींटते ही अन्यका रोग मिट जावे और मूर्छा दूर हो जावे। शास्त्रदानसे ज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है और आश्चर्यकारी बुद्धि प्रगटती है। देखो ना, ग्वालेके भवमें शास्त्रदान देकर ज्ञानका बहुमान किया तो इस भवमें कुन्दकुन्दाचार्यदेवको कैसा श्रुतज्ञान प्रगटा! और कैसी लब्धि प्राप्त हुई! वे तो ज्ञानके अगाध सागर थे; तीर्थंकर भगवानकी साक्षात् दिव्यध्वनि इस पंचम कालमें उन्हें सुननेको मिली। मंगलाचरणके श्लोकमें महावीर भगवान और गौतम गणधरके पीछे मंगलम् कुन्दकुन्दार्यो कहकर तीसरा उनका नाम लिया जाता है। देव गुरु-शास्त्रके अनादरसे जीवको तीव्र पाप बँधता है, और देव-गुरु-शास्त्रके बहुमानसे जीवको ज्ञानादि प्रगट होते हैं। जिस प्रकार अनाजके साथ घास तो सहज ही पकता है, परन्तु चतुर किसान घासके लिये बोनी नहीं करता, उसकी दृष्टि तो अनाज पर है। इसी प्रकार धर्मात्माको शुद्धताके साथ रहनेवाले शुभसे ऊँचा पुण्य बँधता है और चक्रवर्ती आदि ऊँची पदवी सहज ही मिलती हैं, परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्माकी शुद्धताके साधन पर है, पुण्य अथवा उसके फलकी वाञ्छा उसे नहीं। जिसे पुण्यके फलकी वाञ्छा है ऐसे मिथ्यादृष्टिको तो ऊँचा पुण्य नहीं बंधता; चक्रवर्ती आदि ऊंची पदवी योग पुण्य मिथ्यादर्शनकी भूमिकामें नहीं बँधता। सम्यग्दर्शनरहित जीव मुनिराज आदि उत्तम पात्रको आहारदान दे अथवा अनुमोदना करे तो उसके फलमें वह भोगभूमिमें उत्पन्न होता है, वहाँ असंख्य वर्षकी आयु होती है और दस प्रकारके कल्पवृक्ष उसे पुण्यका फल देते हैं। ऋषभदेव आदि जीवोंने पूर्वमें मुनियोंको आहारदान दिया इससे भोगभूमिमें जन्मे, और वहां मुनिके उपदेशसे सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था। श्रेयांसकुमारने ऋषभदेव भगवानको आहारदान दिया उसकी महिमा तो प्रसिद्ध है।

इस प्रकारके भक्ति-पूजा-आहारदान आदि शुभभाव श्रावकको होते हैं, ऐसी ही उसकी भूमिका है। वर्तमानमें ही उसने रागको दृष्टिमें तो हेय किया है अर्थात् दृष्टिके बलसे अल्पकालमें ही चारित्र प्रगट कर, रागको सर्वथा दूर कर वह मुक्ति प्राप्त करेगा।

सामनेवाला जीव धर्मकी आराधना कर रहा हो उसे देखकर धर्मीको उसके प्रति प्रमोद, बहुमान और भक्तिका भाव उल्लसित होता है, क्योंकि स्वयंको उस आराधनाका तीव्र प्रेम है। अर्थात् उसके प्रति भक्तिसे (मैं उस पर उपकार करता हूँ ऐसी बुद्धिसे नहीं परन्तु आदरपूर्वक) शास्त्रदान, आहारदान आदिके भाव आते हैं। इस बहाने वह स्वयं अपने रागको घटाता है और आराधनाकी भावनाको पुष्ट करता है। देखो यह तो वीतरागी संतोंने वस्तुस्वरूप प्रगट किया है–वे अत्यन्त निःस्पृह थे, उन्हें कोई परिग्रह नहीं था, उन्हें जगतसे कुछ लेना नहीं था। धर्मी जीव भी निःस्पृह होता है, उसे भी किसीसे लेनेकी इच्छा नहीं। लेनेकी वृत्ति तो पाप है। धर्मी जीव तो दानादि द्वारा राग घटाना चाहता है। किसी धर्मीको विशेष पुण्यसे बहुत वैभव भी हो, उससे उसे अधिक राग है—ऐसा नहीं। रागका माप संयोगसे नहीं। यहाँ तो धर्मकी निचली भूमिकामें (श्रावक-दशामें) धर्म कितना हो, राग कैसा हो और उसका फल क्या हो वह बतलाया है। वहाँ जितनी वीतरागता हुई है उतना धर्म है और उसका फल तो आत्मशांतिका अनुभव है। स्वर्गादि वैभव मिले वह कोई वीतरागभावरूप धर्मका फल नहीं, वह तो रागका फल है। कोई जीव यहां ब्रह्मचर्य पाले और स्वर्गमें उसे अनेक देवियाँ मिलें,—तो क्या ब्रह्मचर्यके फलमें देवियाँ मिलीं? नहीं, ब्रह्मचर्यमें जितना राग दूर हुआ और वीतरागभाव हुआ उसका फल तो आत्मामें शान्ति है, परन्तु अभी वह पूर्ण वीतराग नहीं हुआ अर्थात् अनेक प्रकारके शुभ और अशुभ राग बाकी रह गये हैं; अभी धर्मीको जो शुभराग बाकी रह गया है उसके फलमें वह कहां जायेगा? क्या नरकादि हल्की गतिमें जावेगा? नहीं, वह तो देवलोकमें ही जावेगा। अर्थात् देवलोककी प्राप्ति रागका फल है, धर्मका नहीं। यहां पुण्यका फल बतलाकर कोई उसकी लालच नहीं कराते, परन्तु राग घटानेका उपदेश देते हैं। जिस प्रकार स्त्री, शरीर आदिके लिये अशुभभावसे शक्ति अनुसार खर्च उत्साह-पूर्वक करता है, वहां अन्यको यह कहना नहीं पड़ता कि तू इतना खर्च कर। तो जिसे धर्मका प्रेम है वह जीव स्वप्रेरणासे, उत्साहसे देव-गुरु-धर्मकी भक्ति, पात्रदान आदिमें बारम्बार अपनी लक्ष्मीका उपयोग करता है,—इसमें वह किसीके कहनेकी राह नहीं देखता। राग तो अपने लिये घटाना है ना! किसी अन्यके लिये राग नहीं घटाना है। इसलिये धर्मी जीव चतुर्विधदान द्वारा अपने रागको घटावे ऐसा उपदेश है ॥ १२ ॥

अनेक प्रकारके आरम्भ और पापसे भरे हुये गृहस्थाश्रममें पापसे बचनेके लिये दान मुख्य कार्य है; उसका उपदेश आगेकी छह गाथाओंमें करेंगे।

अहा, जिसे सर्वज्ञके धर्मकी महिमा आई है, अन्तरदृष्टिसे आत्माके धर्मको जो साधता है, महिमापूर्वक वीतरागभावमें जो आगे बढ़ता है, और तीव्र राग घटनेसे जिसे श्रावकपना हुआ है—उस श्रावकके भाव कैसे होते हैं उसकी यह बात है ! सर्वार्थसिद्धिके देवकी अपेक्षा जिसकी पदवी ऊँची, और स्वर्गके इन्द्रकी अपेक्षा जिसे आत्मसुख अधिक—ऐसी श्रावकदशा है। वह श्रावक भी हमेशा दान करता है। मात्र लक्ष्मीकी लोलुपतामें, पापभावमें जीवन बिता दे और आत्माकी कोई जिज्ञासा न करे–ऐसा जीवन धर्मीका अथवा जिज्ञासुका नहीं होता।

गृहस्थको दानकी प्रधानताका उपदेश देते हैं—

कृत्वाऽकार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं
भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं दुःखेतयच्चार्जितम्।
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धन प्रियोऽस्य पन्था शुभो
दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्सद्गति ॥१३॥

जीवोंको पुत्रकी अपेक्षा और अपने जीवनकी अपेक्षा धन अधिक प्यारा है; पापसे भरे हुए सैकड़ों अकार्य करके, समुद्र-पर्वत और पृथ्वीमें भ्रमण करके तथा अनेक प्रकारके कष्टसे महा खेद भोगकर दुःखसे जो धन प्राप्त करता है वह धन, जीवोंको पुत्रकी अपेक्षा और जीवकी अपेक्षा भी अधिक प्यारा है, ऐसे धनका उपयोग करनेका शुभमार्ग एक दान ही है, इसके सिवाय धन खर्च करनेका कोई उत्तम मार्ग नहीं। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, भव्य जीवो ! तुम ऐसा दान करो।

देखो आजकल तो जीवोंको पैसा कमानेके लिये कितना पाप और झूठ करना

पड़ता है। समुद्रपारके देश में जाकर अनेक प्रकारके अपमान सहन करे, सरकार पैसा ले लेगी ऐसा दिन रात भयभीत रहा करे,—इसप्रकार पैसेके लिये कितना कष्ट सहन करता है और कितने पाप करता है? इसके लिये अपना महामूल्य जीवन भी नष्ट कर देता है, पुत्रादिका भी वियोग सहन करता है,—इस प्रकार वह जीवनकी अपेक्षा और पुत्रकी अपेक्षा धनको प्यारा गिनता है।—तो आचार्यदेव कहते हैं कि—भाई, ऐसा प्यारा धन, जिसके लिये तूने कितने पाप किये, उस धनका सच्चा-उत्तम उपयोग क्या? इसका विचार कर। स्त्री-पुत्रके लिये अथवा विषय-भोगोंके लिये तू जितना धन खर्च करेगा, उसमें तो उलटे तुझे पापबन्ध होगा। इसलिये लक्ष्मीकी सच्ची गति यह है कि राग घटाकर देव-गुरु-धर्मकी प्रभावना, पूजा-भक्ति, शास्त्रप्रचार, दान आदि उत्तम कार्योंमें उसका उपयोग कर।

प्रश्नः—बच्चोंके लिये कुछ न रखना?

उत्तरः—भाई, तो तेरा पुत्र सुपुत्र और और पुण्यवंत होगा तो वह तुससे सवाया धन प्राप्त करेगा; और जो वह पुत्र कुपुत्र होगा तो तेरी इकट्ठी की हुई सब लक्ष्मीको भोग-विलासमें नष्ट कर देगा, और पापमार्गमें उपयोग करके तेरे धनको धूल कर डालेगा,—तो अब तुझे संचय किसके लिये करना है? पुत्रका नाम लेकर तुझे अपने लोभका पोषण करना हो तो जुदी बात है! अन्यथा—

पूत सपूत तो क्यों धन संचय?
पूत कपूत तो क्यों धन संचय?

इसलिये, लोभादि पापके कुएँमेंसे तेरी आत्माका रक्षण हो ऐसा कर; लक्ष्मीके रक्षणकी ममता छोड़ और दानादि द्वारा तेरी तृष्णाको घटा। वीतरागी सन्तोंको तो तेरे पाससे कुछ नहीं चाहिये। परन्तु जिसे पूर्ण राग रहित स्वभावकी रुचि उत्पन्न हुई है, वीतरागस्वभावकी तरफ जिसका परिणमन लगा उसको राग घटे बिना नहीं रहता। कोईके कहनेसे नहीं परन्तु अपने सहज परिणामसे ही मुमुक्षुको राग घट जाता है।

इस संबंधमें धर्मी गृहस्थको कैसे विचार होते हैं? समन्तभद्रस्वामी रत्नकरंड-श्रावकाचारमें कहते हैं कि—

यदि पापनिरोधोऽन्यसम्पदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ॥२७॥

जो पापका आस्रव मुझे रुक गया है तो मुझे मेरे स्वरूपकी सम्पदा प्राप्त होगी, वहां अन्य सम्पदाका मुझे क्या काम ? और जो मुझे पापका आस्रव हो रहा है तो ऐसी सम्पदासे मुझे क्या लाभ है ? जिस सम्पदाको मिलनेसे पाप बढ़ता हो और स्वरूपकी सम्पदा लुटती हो ऐसी सम्पदा किस काम की ?—इस प्रकार दोनों तरहसे सम्पदाका असारपना जानकर धर्मी उसका मोह छोड़ता है। जो मात्र लक्ष्मीकी लोलुपताके पापभावमें जीवन बिता दे और आत्माकी कोई जिज्ञासा न करे ऐसा जीवन धर्मीका अथवा जिज्ञासुका नहीं होता । अहा, जिसे सर्वज्ञकी महिमा आयी है, अन्तरदृष्टिसे आत्माके स्वभावको जो साधते हैं, महिमापूर्वक वीतरागमार्गमें जो आगे बढ़ते हैं, और तीव्र राग घटनेसे जिन्हें श्रावकपना प्रगट हुआ है—ऐसे श्रावकके भाव कैसे हों उसकी यह बात है। सर्वार्थसिद्धिके देवकी अपेक्षा जिसकी पदवी ऊँची है, स्वर्गके इन्द्रकी अपेक्षा जिसका आत्मसुख अधिक है-ऐसी श्रावकदशा है। स्वभावके सामर्थ्यका जिसे भान है, विभावकी विपरीतता समझता है और परको पृथक् देखता है, ऐसा श्रावक रागके त्याग द्वारा अपने में क्षण-क्षण शुद्धताका दान करता है और बाहरमें अन्यको भी रत्नत्रयके निमित्तरूप शास्त्र आदिका दान करता है।

ऐसा मनुष्य-भव प्राप्त कर; आत्माकी जिज्ञासा कर उसके ज्ञानकी कीमत आनी चाहिये, श्रावकको स्वाध्याय, दान आदि शुभभाव विशेषरूपसे होते हैं। जिसे ज्ञानका रस हो, प्रेम हो, वह हमेशा स्वाध्याय करे; नये-नये शास्त्रोंके स्वाध्याय करनेसे ज्ञानकी निर्मलता बढ़ती जाती है, उसे नये-नये वीतरागभाव प्रगट होते जाते हैं। अपूर्व तत्त्वके श्रवण और स्वाध्याय करनेसे उसे ऐसा लगता है कि अहो, आज मेरा दिन सफल हुआ । छह प्रकारके अन्तरंग तपोंमें ध्यानके पश्चात् दूसरा नम्बर स्वाध्यायका कहा है ।

श्रावकको सब पक्षोंका विवेक होता है । स्वाध्याय आदिकी तरह देवपूजा आदि कार्योंमें भी वह भक्तिसे वर्तता है । श्रावकको भगवान् सर्वज्ञदेवके प्रति परम प्रीति हो.... अहो, यह तो इष्ट ध्येये है ! इस प्रकार जीवनमें वह भगवानको ही इच्छता है। चलते-फिरते प्रत्येक प्रसंगमें उसे भगवान याद आते हैं। वह नदीके झरनेकी कल-कल आवाज सुनकर कहता है कि हे प्रभो ! आपने पृथ्वीका त्याग कर दीक्षा ली इससे अनाथ हुई यह पृथ्वी कलरव करती विलाप करती है और उसके आँसुओंका यह प्रवाह है । वह आकाशमें सूर्य-चन्द्रको देखकर कहता है कि प्रभो ! आपने शुक्ल-ध्यान द्वारा घातिया कर्मोंको जब भस्म किया तब उसके स्फुलिंग आकाशमें उड़े, वे स्फुलिंग ही ये सूर्य-चन्द्र रूपमें उड़ते दिखाई दे रहे हैं।—और ध्यान-अग्निमें भस्म होकर उड़ते हुए कर्मके समूह बादलोंके रूपमें अभी भी जहाँ-तहाँ घूम रहे हैं।—ऐसी उपमाओं द्वारा श्रावक भगवानके

शुक्ल ध्यानको याद करता है और स्वयं भी उसकी भावना भाता है। ध्यानकी अग्नि, और वैराग्यकी हवा उससे अग्नि प्रज्वलित होकर कर्म भस्म हो गये, उसमें सूर्य-चन्द्ररूपी स्फुलिंग उड़े। ध्यानस्थ भगवानके बाल हवामें फर-फर उड़ते देखकर कहता है कि, ये बाल नहीं ये तो भगवानके अन्तरमें ध्यान द्वारा जो कर्म जल रहे हैं उनका धुआँ उड़ रहा है।—इस प्रकार सर्वज्ञदेवको पहचानकर उनकी भक्तिका रंग लगाया है। उसके साथ गुरुकी उपासना, शास्त्रका स्वाध्याय आदि भी होता है। शास्त्र तो कहते हैं कि अरे, कान द्वारा जिसने वीतरागी सिद्धान्तका श्रवण नहीं किया और मनमें उसका चिंतवन नहीं किया, उसे कान और मन मिलना न मिलनेके बराबर ही हैं। आत्माकी जिज्ञासा नहीं करे तो कान और मन दोनों गुमाकर एकेन्द्रियमें चला जायगा। कानकी सफलता इसमें है कि धर्मका श्रवण करे, मनकी सफलता इसमें है कि आत्मिक गुणोंका चिंतवन करे, और धनकी सफलता इसमें है कि सत्पात्रके दानमें उसका उपयोग हो। भाई, अनेक प्रकारके पाप करके तूने धन इकट्ठा किया तो अब परिणामोंको पलटकर उसका ऐसा उपयोग कर कि जिससे तेरे पाप धुलें और तुझे उत्तम पुण्य बँधे।—इसका उपयोग तो धर्म के बहुमानपूर्वक सत्पात्रदान करना ही है।

लोगोंको जीवनसे और पुत्रसे भी यह धन प्यारा होता है। परन्तु धर्मी-श्रावकको धन अपेक्षा धर्म प्यारा है। इसलिये धर्मके लिये धन खर्चनेमें उसे उल्लास आता है। इसलिये श्रावकके घरमें अनेक प्रकार दानके कार्य निरन्तर चला करते हैं। धर्म और दानरहित घरको तो श्मशानतुल्य गिनकर कहते हैं कि ऐसे गृहवासको तो गहरे पानीमें जाकर 'स्व....हा' कर देना। जो एकमात्र पाप-बन्धका ही करण हो ऐसे गृहवासको तू तिलाँजलि देना, पानीमें डुबो देना। अरे; वीतरागी सन्त इस दानका गुँजार शब्द करते हैं....उसे सुनकर क्या भव्य जीवोंके हृदयकमल न खिल उठें? किसे उत्साह नहीं आवे! भ्रमरके गुँजार शब्द से और चन्द्रमाके उदयसे कमलकी कली तो खिल उठती है, पत्थर नहीं खिलता है; उसी प्रकार इस उपदेशरूपी गुँजार शब्दको सुनकर धर्मकी रुचिवाले जीवका हृदय तो खिल उठता है....कि वाह! देव-गुरु-धर्मकी सेवाका अवसर आया.... मेरा धन्य भाग्य....कि मुझे देव-गुरुका काम मिला। इस प्रकार उल्लसित होता है। शास्त्रमें कहते हैं कि शक्ति-प्रमाण दान करना। तेरे पास एक रुपयेकी पूंजी हो तो उसमें से एक पैसा दान करना....परन्तु दान अवश्य करना, लोभ घटानेका अभ्यास अवश्य करना। लाखों-करोड़ोंकी पूँजी हो तभी दान दिया जा सके और ओछी पूंजी हो उसमें दान नहीं दिया जा सके—ऐसा कोई नहीं है। स्वयंके लोभ घटानेकी बात है, इसमें कोई

पूँजीकी मात्रा देखना नहीं है । उत्तम श्रावक कमाईका चौथा भाग धर्ममें खर्च करे, मध्यमपने छट्ठा भाग खर्च करे और कमसे कम दसमांश खर्च करे—ऐसा उपदेश है । चन्द्रकान्त-मणिकी सफलता कब ? कि चन्द्रमाके संयोगसे इसमें पानी झरने लगे तब; उसी प्रकार लक्ष्मीकी सफलता कब ? कि सत्पात्रके प्रति वह दानमें खर्च हो तब । धर्मीको ऐसा भाव होता ही है, परन्तु उदाहरणसे अन्य जीवोंको समझाते हैं ।

संसारमें लोभी जीव धनप्राप्तिके लिये कैसे-कैसे पाप करते हैं । लक्ष्मी तो पुण्यानुसार मिलती है परन्तु उसकी प्राप्तिके लिये बहुतसे जीव झूठ-चोरी आदि अनेक प्रकारके पापभाव करते हैं । कदाचित् कोई जीव ऐसे भाव न करे और प्रमाणिकतासे व्यापार करे तो भी लक्ष्मी प्राप्त करनेका भाव तो पाप ही है । यह बतलाकर यहाँ ऐसा कहते हैं कि भाई, जिस लक्ष्मीके लिये तू इतने इतने पाप करता है और जो लक्ष्मी पुत्रादिकी अपेक्षा भी तुझे अधिक प्यारी है; उस लक्ष्मीका उत्तम उपयोग यही है कि सत्पात्रदान आदि धर्म कार्योंमें उसे खर्च; सत्पात्रदानमें खर्ची गई लक्ष्मी असंख्यगुणी होकर फलेगी । एक आदमी चार-पाँच हजार रुपयेके नये नोट लाया और घर आकर स्त्रीको दिये, उस स्त्रीने उन्हें चूलेके पास रख दिया और अन्य कामसे जरा दूर चली गई । उसका छोटा लड़का पीछे सिगड़ीके पास बैठा था, सर्दीके दिन थे; लड़केने नोटकी गड्डी उठाकर सिगड़ीमें डाल दी और अग्नि भड़क गई और वह तापने लगा ...इतनेमें माँ आई, लड़का कहने लगा—माँ देख....मैंने सिगड़ी कैसी कर दी ! देखते ही मां समझ गई कि अरे, इसने तो पांच हजार रुपयों की राख कर दी ! उसे ऐसा क्रोध चढ़ा कि उसने लड़केको इतना अधिक मारा कि लड़का मर गया ! देखो, पुत्रकी अपेक्षा धन कितना प्यारा है ! !

दूसरी एक घटना—एक ग्वालिन दूध बेचकर उसके तीन रूपये लेकर अपने गाँव जा रही था, अकालके दिन थे, रास्तेमें लुटेरे मिले । बाईको डर लगा कि ये लोग मेरे रुपये छीन लेंगे, इसलिये वह तीन रुपये—कल्दार पेटमें निगल गई । परन्तु लुटेरोंने वह देख लिया और बाईको मारकर उसके पेटमेंसे रुपये निकाल लिये । देखो, यह क्रूरता ! ऐसे जीव दौड़कर नरकमें न जावें तो अन्य कहाँ जावें ? ऐसे तीव्र पापके परिणाम तो जिज्ञासुको नहीं होते । बहुतसे लोगोंको तो लक्ष्मी कमानेकी धुनमें अच्छी तरह खानेका समय भी नहीं मिलता, देश छोड़कर अनार्यकी तरह परदेशमें जाता है, जहाँ भगवानके दर्शन भी न मिलें, सत्संग भी न मिलें, अरे भाई ! जिसके लिये तूने इतना किया उस लक्ष्मीका कुछ तो सदुपयोग कर । पचास-आठ वर्ष संसारकी मजदूरी कर-करके मरने बैठा हो, मरते-मरते अन्त घड़ीमें बच जाय और खटियामेंसे उठे तो भी और वहीके

वही पापकार्य में संलग्न हो जाय, परन्तु ऐसा नहीं विचारता कि अरे, समस्त जिन्दगी धन कमानेमें गवाँ दी और मुफ्तमें पाप बांधा, फिर यह धन तो कोई साथ चलनेका नहीं है, इसलिये अपने हाथसे ही राग घटाकर इसका कोई सदुपयोग करूँ; और जीवनमें आत्माका कुछ हित हो ऐसा उद्यम करूँ। देव-गुरु-धर्मका उत्साह, सत्पात्रदान, तीर्थयात्रा आदिमें राग घटाकर लक्ष्मीका उपयोग करेगा तो भी तुझे अन्तरंगमें ऐसा सन्तोष होगा कि आत्माके हितके लिये मैंने कुछ किया है। अन्यथा मात्र पापमें ही जीवन बिताया तो तेरी लक्ष्मी भी निष्फल जायेगी और मरण समय तू पछतावेगा कि अरे, जीवनमें आत्महितके लिये कुछ नहीं किया; और अशान्तरूपसे देह छोड़कर कौन जाने कहाँ जाकर पैदा होगा ? इसलिये हे भाई! छठवेंसे सातवें गुणस्थानमें झूलते मुनिराजने [illegible] हितके लिये इस श्रावकधर्मका उपदेश दिया है। तेरे पास चाहे [illegible] हो,—परन्तु उसमेंसे तेरा कितना ? तू दानमें खर्च करे उतना तेरा। [illegible] कार्योंमें खर्च हो उतना ही धन सफल है। बारम्बार सत्पात्र- [illegible] —धर्मात्माओं आदिके प्रति बहुमान, विनय, भक्तिसे तुझे धर्मके [illegible] संस्कार परभवमें भी साथ चलेंगे।—लक्ष्मी कोई परभवमें [illegible] सांसारिक कार्योंमें (विवाह, भोगोपभोग आदिमें) [illegible] परन्तु धर्मकार्योंमें तू लोभ मत कर, वहाँ तो उत्साह- [illegible] धर्मात्मा कहलाता है परन्तु धर्म-प्रसंगमें उत्साह [illegible] आदिका लोभ भी घटा नहीं सकता, तो आचार्यदेव [illegible] नहीं परन्तु दंभी है, धर्मीपनेका वह सिर्फ दंभ करता [illegible] और तो धर्म-प्रसंगमें उत्साह आने ही; और [illegible] सफल है—ऐसा समझकर दान आदिमें [illegible]

[illegible] यही बात अब विशेष प्रकारसे कहते हैं।

धर्मकी प्रभावना आदिके लिये दान करनेका प्रसंग आये वहाँ धर्मके प्रेमी जीवका हृदय झनझनाता हुआ उदारतासे उछल जाता है कि-अहो, ऐसे उत्तम कार्यके लिये जितना धन खर्च किया जावे उतना सफल है। जो धन अपने हितके लिये काम न आवे और बन्धनका ही कारण हो-वह धन किस कामका ?-ऐसे धनसे धनवानपना कौन कहे ? सच्चा धनवान तो वह है कि जो उदारतापूर्वक धर्मकार्योंमें अपनी लक्ष्मी खर्च करता है।

श्रावकके हमेशाके जो छह कर्तव्य हैं उनमेंसे दानका वह वर्णन चल रहा है—

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्योतिका
नैव स्यान्नतु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वंसकृत्।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते
तन्नाशाय शशांकशुभ्रयशसे दानं न चान्यत्परम् ॥ १४ ॥

धनवान मनुष्योंका गृहस्थपना दान द्वारा ही लाभदायक है, तथा दान द्वारा ही इस लोक और परलोक दोनोंका उद्योत होता है; दानरहित गृहस्थपना तो दोनों लोकोंका ध्वंस करनेवाला है। गृहस्थको सैकड़ों प्रकारके दुर्व्यापारसे जो पाप होता है उसका नाश दान द्वारा ही होता है और दान द्वारा चन्द्र समान उज्ज्वल यश प्राप्त होता है। इस प्रकार पापका नाश और यशकी प्राप्तिके लिये गृहस्थको सत्पात्रदानके समान अन्य कुछ नहीं। इसलिये अपना हित चाहनेवाले गृहस्थोंको दान द्वारा गृहस्थपना सफल करना चाहिये।

देव-गुरु-शास्त्रकी तरफके उल्लासके द्वारा संसारकी ओरका उल्लास कम होता है तब वहां दानादिके शुभभाव आते हैं, इसलिये गृहस्थको पाप घटाकर शुभभाव करना

रण चढ़ा रजपूत छुपे नहीं....
दाता छुपे नहीं घर मांगन आये....

जैसे युद्धमें तलवार चलानेका प्रसंग आवे वहाँ रजपूतकी शूरवीरता छिपी नहीं रहती, वह घरके कोनेमें चुपचाप नहीं बैठता, उसका शौर्य उछल जाता है, उसी प्रकार जहाँ दानका प्रसंग आता है वहां उदार हृदयके मनुष्यका हृदय छिपा नहीं रहता; धर्मके प्रसंगमें प्रभावना आदिके लिये दान करनेका प्रसंग आवे वहाँ धर्मके प्रेमी जीवका हृदय झनझनाहट करता उदारतासे उछल जाता है; वह वचनेका वहाना नहीं ढूंढ़ता, अथवा उसे वार-वार कहना नहीं पड़ता परन्तु अपने उत्साहसे ही दान आदि करता है कि अहो, ऐसे उत्तम कार्यके लिये जितना दान करूँ उतना कम है। मेरी जो लक्ष्मी ऐसे कार्यमें खर्च हो वह सफल है। इस प्रकार श्रावक दान द्वारा अपने गृहस्थपनेको शोभित करता है। शास्त्रकार अब इस वातका विशेष उपदेश देते हैं।

संसारमें जब हजारों प्रकारकी प्रतिकूलता एक साथ आ पड़े कहीं मार्ग न सूझे, उस समय उपाय क्या? उपाय एक ही कि—धैर्य पूर्वक ज्ञानभावना भाना।

ज्ञानभावना क्षणमात्रमें सब प्रकारकी उदासीको नष्ट कर हितमार्ग सुझाती है, शान्ति देती है, कोई अलौकिक धैर्य और अचिंत्य शक्ति देती है।

गृहस्थ श्रावकको भी "ज्ञानभावना" होती है।
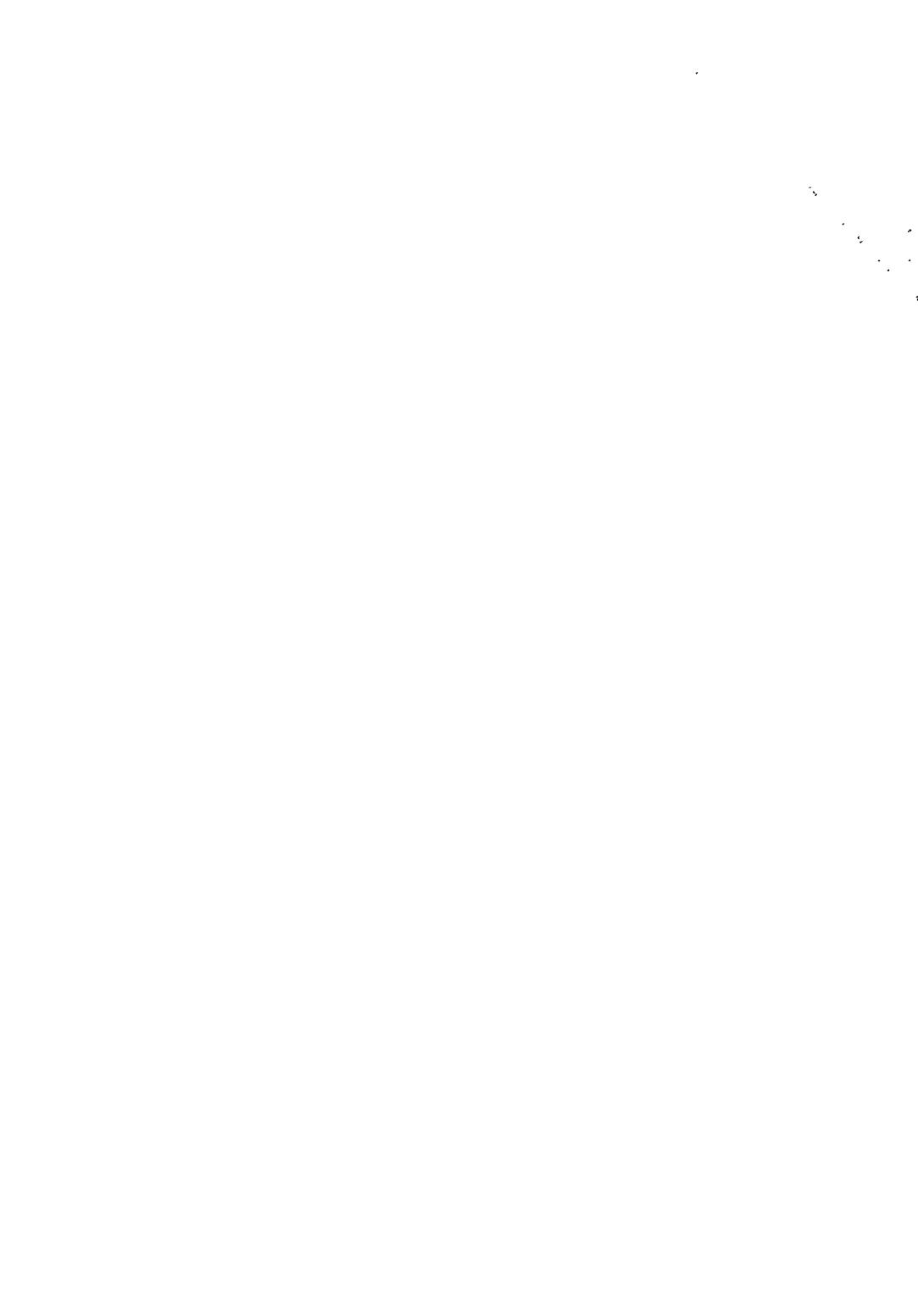
कारण है, और धर्म-प्रसंगमें, धर्मात्माके बहुमान आदिके लिये जो करूँ वह पुण्यका कारण है, और उसके फलस्वरूप परलोकमें ऐसी सम्पदा मिलेगी। परन्तु धर्मात्मा तो इस सम्पदाको भी छोड़कर, मुनि होकर, रागरहित ऐसे केवलज्ञानको साधकर मोक्ष प्राप्त करेगा। इस प्रकार तीनोंका विवेक करके धर्मी जीव जहां तक मुनिदशा न हो सके वहां तक गृहस्थ अवस्थामें पापसे बचकर दानादि शुभकार्योंमें प्रवर्तता है।

श्री पद्मनन्दीस्वामीने दानका विशेष रूपसे अलग अधिकारमें वर्णन किया है। (उस पर भी अनेकबार प्रवचन हो गये हैं) भाई! स्त्री आदिके लिये तू जो धन खर्च करता है वह तो व्यर्थ है, पुत्र-पुत्रीके लग्न आदिमें पागल होकर धन खर्च करता है वह तो व्यर्थ ही नहीं परन्तु उलटे पापका कारण है। उसके बदले हे भाई! जिन-मंदिरके लिये, वीतरागी शास्त्रोंके लिये तथा धर्मात्मा-श्रावक-साधर्मी आदि सुपात्रोंके लिये जो तेरी लक्ष्मी खर्च हो वह धन्य है। लक्ष्मी तो एक जड़ है, परन्तु उसके दानका जो भाव है वह धन्य है ऐसा समझना क्योंकि सत्कार्यमें जो लक्ष्मी खर्च हुई उसका फल अनन्तगुना आवेगा। इसकी दृष्टिमें धर्मकी प्रभावनाका भाव है अर्थात् आराधकभावसे पुण्यका रस अनन्तगुना बढ़ जाता है। नव प्रकारके देव कहे हैं—पंच परमेष्ठी, जिनमंदिर, जिनबिम्ब, जिनवाणी और जिनधर्म—इन नव प्रकारके देवोंके प्रति धर्मीको भक्तिका उल्लास आता है। जो जीव पापकार्योंमें तो धन उत्साहसे खर्च करता है और धर्मकार्योंमें कंजूसी करता है, तो उस जीवको धर्मका सच्चा प्रेम नहीं; धर्मकी अपेक्षा संसारका प्रेम उसे अधिक है। धर्मका प्रेमवाला गृहस्थ अपनी लक्ष्मी संसारकी अपेक्षा अधिक उत्साहसे धर्मकार्योंमें खर्च करता है।

अरे, चैतन्यको साधनेके लिये जहां सर्वसंगपरित्यागी मुनि होनेकी भावना हो, वहाँ लक्ष्मीका मोह न घटे यह कैसे बने? लक्ष्मीमें, भोगोंमें अथवा शरीरमें धर्मीको सुखबुद्धि नहीं होती। आत्मीयसुख जिसने देखा है अर्थात् विशेष सुखोंकी तृष्णा जिसे नष्ट हो गई है।—जिसमें सुख नहीं उसकी भावना कौन करे? इस प्रकार धर्मात्माके परिणाम अत्यन्त कोमल होते हैं, तीव्र पापभाव उसे नहीं होते। लोभियोंके हेतु कौवेका उदाहरण शास्त्रकारने दिया है। जली हुई रसोईकी खुरचन मिले वहां कौवा कांव-कांव करता रहता है, वहां अलंकारसे आचार्य बताते हैं कि अरे यह कौवा भी काँव-काँव करता हुआ अन्य कौवोंको इकट्ठा करके खाता है, और तू? राग द्वारा तेरे गुण जले तब पुण्य बंधा और उसके फलमें यह लक्ष्मी मिली, इस तेरे गुणके जले हुए खुरचनको जो तू अकेला-अकेला खावे और साधर्मी-प्रेम वगैरहमें उसका उपयोग न करे तो क्या कौवेसे भी तू

[१६]

पुण्यफलको छोड़कर धर्मीजीव मोक्षको साधता है

प्रभो ! दिव्यध्वनि द्वारा आपने आत्माके अचिन्त्य निधानको स्पष्टरूपसे बतलाया, तो अब इस जगतमें ऐसा कौन है जो इसके खातिर राजपाटके विधानको तृणसम समझकर न छोड़े ?—और चैतन्यनिधानको न साधे ? अहा, चैतन्यके आनन्दनिधानको जिसने देखा उसे रागके फलरूप बाह्य-वैभव तो तृणतुल्य लगता है।

पुत्रे राज्यमशेषमर्थिषु धनं दत्त्वाऽभयं प्राणिषु ।
प्राप्ता नित्यसुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवाः
मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथमतो दानं निधानं बुधैः
शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते ॥ १६ ॥

यह जीवन और धन दोनों अत्यंत क्षणभंगुर हैं—ऐसा जानकर चतुर पुरुषको सदा शक्ति अनुसार दान करना चाहिये, क्योंकि मोक्षका प्रथम कारण दान है। पूर्वमें अनेक राजाओंने याचक जनोंको धन देकर, सब प्राणियोंको अभय देकर और समस्त राज्य पुत्रको देकर सम्यक्तप द्वारा नित्य सुखास्पद मोक्ष पाया।

देखिये, यहां ऐसा बतलाते हैं कि दानके फलमें धर्मी जीवको राज्य-सम्पदा वगैरह मिले उसमें वह सुख मानकर मूर्च्छित नहीं होता, परन्तु दानादि द्वारा उसका त्याग करके मुनि होकर मोक्षको साधने चला जाता है।

जिस प्रकार चतुर किसान बीजकी रक्षा करके बाकीका अनाज भोगता है, और बीज बोता है उसके हजारोंगुने दाने पकते हैं, उसीप्रकार धर्मीजीव पुण्यफलरूप लक्ष्मी वगैरह वैभवका उपभोग धर्मकी रक्षापूर्वक करता है, और दानादि सत्कार्योंमें लगाता है,—जिससे उसका फल बढ़ता जाता है और भविष्यमें तीर्थंकरदेवका समवसरण तथा

समझकर न त्यागे ?—और चैतन्यविधानको न साधे ! देखो तो, बाहुबली जैसे बलवान योद्धा राजसम्पदा छोड़कर इस प्रकार चले गये कि पीछे फिरकर भी नहीं देखा कि राज्यका क्या हाल है ! चैतन्यकी साधनामें अडिगरूपसे ऐसे लीन हुये कि खड़े-खड़े ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। शांतिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ जैसे चक्रवर्ती-तीर्थंकर वैसे ही भरत-चक्रवर्ती, पाण्डव आदि महापुरुष भी क्षणमात्रमें राज्य-वैभव छोड़कर मुनि हुये; जीवनमें प्रारम्भसे ही भिन्नताकी भावना घोलन था। वे राग और राजसे पहले ही से अलिप्त थे इसलिये क्षणभरमें ही जिस प्रकार सर्प काँचली उतारता है उसी प्रकार वे राज्य और राग दोनोंको छोड़कर मुनि हुए और उन्होंने स्वरूपका साधन किया। अज्ञानीको तो साधारण परिग्रहकी ममता छोड़नी भी कठिन पड़ती है। चक्रवर्तीकी सम्पदाकी तो क्या बात ! परन्तु उन्होंने चैतन्यसुखके सामने उसे भी तुच्छ समझकर एक क्षणमें छोड़ दी। इसलिये कवि कहते हैं कि—

छ्यानवे हजार नार छिनकमें दीनी छार,
अरे मन ! ता निहार, काहे तू डरत है ?
छहों खण्डकी विभूति छांड़त न वेर कीन्हीं,
चमू चतुरंगन सों नेह न धरत है,
नौं निधान आदि जे चौदह रतन त्याग,
देह सेती नेह तोड़ वन विचरत है,
ऐसो विभौ त्यागत विलम्ब जिन कीन्हों नाहीं,
तेरे कहो केती निधि ? सोच क्यों करत है !

अरे, लक्ष्मी और जीवन अत्यन्त ही अस्थिर है, उसका क्या भरोसा ? लक्ष्मीका दूसरा नाम 'चपला' कहा है, क्योंकि वह इन्द्रधनुष जैसा चपल है—क्षणभंगुर है। लक्ष्मी कब चली जावेगी और जीवन कब समाप्त हो जावेगा इसका कोई भरोसा नहीं, कलका करोड़पति अथवा राजा-महाराजा आज भिखारी बन जाता है, आजका निरोगी दूसरे क्षण मर जाता है, सुबह जिसका राज्यअभिषेक हुआ संध्या समय उसकी ही चिता देखनेमें आती है। भाई, ये तो सब अध्रुव हैं, इसलिये ध्रुव चैतन्यस्वभावको दृष्टिमें लेकर इस लक्ष्मी आदिका मोह छोड़। धर्मी श्रावक अथवा जिज्ञासु गृहस्थ अपनी वस्तुमेंसे शक्तिअनुसार याचकोंको इच्छित दान देवें। दान योग्य वस्तुका होता है, अयोग्य वस्तुका दान नहीं होता। लौकिक कथाओंमें आता है कि किसी राजाने अपने शरीरका मांस फाटकर दानमें दिया अथवा अमुक भक्तने अपने किसी एक पुत्रका मस्तक दानमें दिया,

[१७]

मनुष्यपना प्राप्त करके या तो मुनि हो, या दान दे

जैनधर्मका चरणानुयोग भी अलौकिक है। द्रव्यानुयोगके अध्यात्मका और चरणानुयोगके परिणामका मेल होता है। दृष्टि सुधरे और परिणाम चाहे जैसे हुआ करें ऐसा नहीं बनता। अध्यात्मकी दृष्टि हो वहां देव-गुरुकी भक्ति, दान, साधर्मीके प्रति वात्सल्य आदि भाव सहज आते ही हैं। श्रावकके अन्तरमें मुनिदशाकी प्रीति है अर्थात् हमेशा त्यागकी ओर लक्ष रहा करता है, और मुनिराजको देखते ही भक्तिसे उसके रोम-रोम उल्लसित हो जाते हैं। भाई ! ऐसा मनुष्य-अवतार मिला है तो मोक्ष मार्ग साधकर इसे सफल कर।

श्रावकधर्मका वर्णन सर्वज्ञकी पहचानसे शुरू किया था, उसमें यह दानका प्रकरण चल रहा है। उसमें कहते हैं कि ऐसा दुर्लभ मनुष्यपना प्राप्त करके जो मोक्षका उद्यम नहीं करता अर्थात् मुनिपना भी नहीं लेता और दानादि श्रावकधर्मका भी पालन नहीं करता, वह तो मोहबंधनमें बँधा हुआ है—

> ये मोक्षंप्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्धेपि दुर्बुद्धयः
> ते तिष्ठंति गृहे न दानमिह चेत् तन्मोहपाशो दृढ़ः।
> मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं दानं सदा दीयतां
> तत्संसारसरित्पति प्रतरणे पोतायते निश्चितं ॥ १७ ॥

ऐसा उत्तम मनुष्यभव प्राप्त करके भी जो कुबुद्धि जीव मोक्षका उद्यम नहीं करता और गृहस्थपनेमें रहकर दान भी नहीं देता उसका गृहस्थपना तो दृढ़ मोहपाशके समान है। ऐसा समझकर गृहस्थके लिये अपनी शक्ति अनुसार विविध प्रकार दान देना सदा कर्तव्य है, क्योंकि गृहस्थको तो दान संसारसमुद्रसे तिरनेके लिए निश्चित् जहाजके समान है।

होती है, उसीप्रकार तीव्र लोलुपी गृहस्थ मिथ्यात्व-मोहके जालमें फँसा रहता है और संसारभ्रमणमें दुःखी होता है। ऐसे संसारसे बचने हेतु दान नौका समान है। अतः गृहस्थोंको अपनी ऋद्धिके प्रमाणमें दान करना चाहिये।

"ऋद्धिके प्रमाणमें"का अर्थ क्या? लाखों-करोड़ोंकी सम्पत्तिमेंसे पाँच-दस रुपया खर्चे—यह कोई ऋद्धिके प्रमाणमें नहीं कहा जा सकता। अथवा अन्य कोई करोड़पतिने पांच हजार खर्च किये और मैं तो उससे कम सम्पत्ति वाला हूं—अतः मुझे तो उससे कम खर्च करना चाहिये;—ऐसी तुलना न करे। मुझे तो मेरे राग घटाने हेतु करना है ना? उसमें दूसरेका क्या काम है?

प्रश्नः—हमारे पास ओछी सम्पत्ति होवे तो दान कहांसे करें?

उत्तरः—भाई, विशेष सम्पत्ति होवे तो ही दान होवे ऐसी कोई बात नहीं। और तू तेरे संसारकार्योंमें तो खर्च करता है कि नहीं? तो धर्मकार्यमें भी उल्लासपूर्वक ओछी सम्पत्तिमेंसे तेरी शक्तिप्रमाण खर्च कर। दानके विना गृहस्थपना निष्फल है। अरे, मोक्षका उद्यम करनेका यह अवसर है। उसमें सभी राग न छूटे तो थोड़ा राग तो घटा! मोक्ष हेतु तो सभी राग छोड़ने पर मुक्ति है; दानादि द्वारा थोड़ा राग भी घटाते तुझसे जो नहीं बनता तो मोक्षका उद्यम तू किस प्रकार करेगा? अहा, इस मनुष्यपनेमें आत्मामें रागरहित ज्ञानदशा प्रगट करनेका प्रयत्न जो नहीं करता और प्रमादसे विषय-कषायोंमें ही जीवन बिताता है वह तो मूढ़बुद्धि मनुष्यपना खो देता है।—बादमें उसे पश्चाताप होता है कि अरे रे! मनुष्यपनेमें हमने कुछ नहीं किया! जिसे धर्मका प्रेम नहीं, जिस घरमें धर्मात्माके प्रति भक्तिके उल्लाससे तन-मन-धन नहीं लगाया जाता वह वास्तवमें घर ही नहीं है परन्तु मोहका पिंजरा है, संसारका जेलखाना है। धर्मकी प्रभावना और दान द्वारा ही गृहस्थपनेकी सफलता है। मुनिपनेमें स्थित तीर्थंकरको अथवा अन्य महामुनियोंको आहारदान देने पर रत्नवृष्टि होती है—ऐसी पात्रदानकी महिमा है। एकबार आहारदानके प्रसंगमें एक धर्मात्माके यहां रत्नवृष्टि हुई, उसे देखकर किसीको ऐसा हुआ कि मैं भी दान देऊँ जिससे मेरे यहां भी रत्न बरसें।—ऐसी भावनासहित आहारदान दिया, आहार देता जावे और आकाशकी ओर देखता जावे कि अब मेरे आंगनमें रत्न बरसेंगे, परन्तु कुछ नहीं बरसा।—देखिये इसे दान नहीं कहते, इसमें मूढ़ जीवके लोभका पोषण है। धर्मी जीव दान देवे उसमें तो उसे गुणोंके प्रति प्रमोद है और राग घटानेकी भावना है। पहले मूर्खतावश कुदेव-कुगुरु पर जितना प्रेम था उसकी अपेक्षा अधिक प्रेम यदि सच्चे देव-गुरुके प्रति न आवे तो उसने सच्चे देव-गुरुको वास्तवमें पहचाना

जहाँ धर्मके प्रसंगमें आपत्ति पड़े वहाँ तन-मन-धन अर्पण करनेमें धर्मी चूकता नहीं; उसे कहना नहीं पड़ता कि भाई! तुम ऐसा करो ना! परन्तु संघ पर, धर्म पर अथवा साधर्मी पर जहाँ आपत्ति प्रसंग आवे और आवश्यकता पड़े वहाँ धर्मात्मा अपनी सारी शक्तिके साथ तैयार ही रहता है। जिस प्रकार रण-संग्राममें राजपूतका शौर्य छिपता नहीं उसी प्रकार धर्म-प्रसंगमें धर्मात्माका उत्साह छिपा नहीं रहता। धर्मात्माका धर्मप्रेम ऐसा है कि धर्मप्रसंगमें उसका उत्साह छिपा नहीं रह सकता, धर्मकी रक्षा खातिर अथवा प्रभावना खातिर सर्वस्व स्वाहा करनेका प्रसंग आवे तो भी पीछे मुड़कर नहीं देखे। ऐसे धर्मोत्साहपूर्वक दानादिका भाव श्रावकको भव-समुद्रसे पार होने हेतु जहाज समान है। अतः गृहस्थोंको प्रतिदिन दान देना चाहिये।

—इस प्रकार दानका उपदेश दिया गया. अब जिनेन्द्रभगवानके दर्शनका विशेष उपदेश दिया जाता है।

卐

आत्माका जीवन चैतन्यसे है, शरीरसे नहीं

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय महान पदार्थ है, वह चैतन्यप्राणसे शाश्वत जीवित रहनेवाला है जिसने अपना ऐसा अस्तित्व स्वीकार किया है उसे जड़ इन्द्रिय आदि प्राणोंके साथ एकताबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि वे जड़ प्राण कहीं आत्माके जीवनका कारण नहीं हैं। शरीरादि जड़ प्राण तो आत्मासे भिन्न हैं और पृथक् हो जाते हैं। यदि आत्मा उनसे जीवित रहता हो तो आत्मासे वे भिन्न क्यों रहें? उनके अस्तित्वसे कहीं आत्मा-का अस्तित्व नहीं, आत्माका अस्तित्व अपने चैतन्य भावप्राणसे ही है, ऐसे चैतन्यजीवको जिसने देखा उस सम्यग्दृष्टिको मरणका भय क्यों हो? मरण ही मेरा नहीं फिर मरणका भय कैसे? इस प्रकार धर्मी जीव मरणके भयसे रहित निःशंक तथा निर्भय परिणमन करता है। जगत मरणसे भयभीत है—परन्तु ज्ञानीको तो आनन्दकी लहर है, क्योंकि प्रथमसे ही अपनेको शरीरसे भिन्न ही अनुभव करता है।

卐

नहीं देता, उसका गृहस्थाश्रमपद पत्थरकी नावके समान है, पत्थरकी नौकाके समान गृहस्थपदमें स्थित हुआ वह जीव अत्यन्त भयंकर भवसागरमें डूबता है और नष्ट होता है।

जिनेन्द्रदेव—सर्वज्ञ परमात्माका दर्शन, पूजन वह श्रावकके हमेशाका कर्तव्य है। प्रतिदिनके छह कर्त्तव्योंमें भी सबसे पहला कर्त्तव्य जिनदेवका दर्शन-पूजन है। प्रातःकाल भगवानके दर्शन द्वारा निजके ध्येयरूप इष्टपदको स्मरण करके पश्चात् ही श्रावक दूसरी प्रवृत्ति करे। इसीप्रकार स्वयं भोजनके पूर्व मुनिवरोंको याद करके अहा, कोई सन्त-मुनिराज अथवा धर्मात्मा मेरे आँगनमें पधारें तो भक्तिपूर्वक उन्हें भोजन देकर पश्चात् मैं भोजन करूँ।—इस प्रकार श्रावकके हृदयमें देव-गुरुकी भक्तिका प्रवाह बहना चाहिये। जिस घरमें ऐसी देवगुरुकी भक्ति नहीं वह घर तो पत्थरकी नौकाके समान डूबनेवाला है। छठवें अधिकारमें (श्रावकाचार-उपासक संस्कार गाथा ६५ में) भी कहा था कि दान बिना गृहस्थाश्रम पत्थरकी नौकाके समान है। भाई! प्रातःकाल उठते ही तुझे वीतराग भगवानकी याद नहीं आती, धर्मात्मा-संत-मुनि याद नहीं आते और संसारके अखबार, व्यापार-धंधा अथवा स्त्री आदिकी याद है तो तू ही विचार कि तेरी परिणति किस तरफ जा रही है?—संसारकी तरफ कि धर्मकी तरफ? आत्मप्रेमी हो उसका तो जीवन ही मानो देव-गुरुमय हो जाता है।

'हरतां फरतां प्रगट हरि देखुं रे...
मारु जीव्युं सफल तव लेखुं रे...'

पंडित बनारसीदासजी कहते हैं कि 'जिनप्रतिमा जिनसारखी' जिनप्रतिमामें जिनवरदेवकी स्थापना है, उस परसे जिनवरदेवका स्वरूप जो पहिचान लेता है, उसीप्रकार जिनप्रतिमाको जिनसमान ही देखता है उस जीवकी भवस्थिति अतिअल्प होती है, अल्प-कालमें वह मोक्ष प्राप्त करता है। 'षट्खण्डागम' (भाग ६ पृष्ठ ४२७)में भी जिनेन्द्रदर्शनको सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका निमित्त कहा है तथा उससे निद्धत और निकाचितरूप मिथ्यात्व आदि कर्मसमूह भी नष्ट हो जाते हैं ऐसा कहा है। इसको रुचिमें वीतरागी-सर्वज्ञस्वभाव प्रिय लगा है और संसारकी रुचि इसे छूट गई है, अर्थात् निमित्तमें भी ऐसे वीतराग निमित्तके प्रति उसे भक्तिभाव उछलता है। जो परमभक्तिसे जिनेंद्र-भगवानका दर्शन नहीं करता, तो इसका अर्थ यह हुआ कि इसे वीतरागभाव नहीं रुचता, और तिरनेका निमित्त नहीं रुचता, परन्तु संसारमें डूबनेका निमित्त रुचता है। जैसी रुचि होती है वैसे संबंधोंकी तरफ रुचि जाये बिना नहीं रहती। इसलिये कहते हैं कि वीतरागी जिनेंद्रको देखते ही जिसे अन्तरमें भक्ति नहीं उल्लसती, जिसे पूजा-स्तुतिका भाव उत्पन्न नहीं होता वह

भाई! जिनेन्द्र भगवानके दर्शन-पूजन भी न करे और तू अपनेको जैन कहलावे, ये तेरा जैनपना कैसा? जिस घरमें प्रतिदिन भक्तिपूर्वक देव-गुरुके दर्शन-पूजा होते हैं, मुनिवरों आदि धर्मात्माओंको आदरपूर्वक दान दिया जाता है—वह घर धन्य है; इसके बिना घर तो स्मशानतुल्य है। अरे, वीतरागी सन्त अधिक क्या कहें? ऐसे धर्मरहित गृहस्थाश्रमको तो हे भाई! समुद्रके गहरे पानीमें तिलांजलि दे देना!—नहीं तो यह तुझे डुबो देगा!

धर्मी जीव प्रतिदिन जिनेन्द्रभगवानके दर्शनादि करते हैं। जिस प्रकार संसारका रागी जीव स्त्री-पुत्रादिके मुँहको अथवा चित्रको प्रेमसे देखता है, उसी प्रकार धर्मका रागी जीव वीतराग-प्रतिमाका दर्शन भक्ति सहित करता है। रागकी इतनी दशा बदलते भी जिससे नहीं बनती वह वीतरागमार्गको कि प्रकार साधेगा? जिस प्रकार प्रिय पुत्र-पुत्रीको न देखे तो माताको चैन नहीं पड़ता, अथवा माताको न देखे तो बालकको चैन नहीं पड़ता, उसी प्रकार भगवानके दर्शन बिना धर्मात्माको चैन नहीं पड़ता। "अरे रे, आज मुझे परमात्माके दर्शन न हुए, आज मैंने मेरे भगवानको नहीं देखा, मेरे प्रिय नाथके दर्शन आज मुझे नहीं मिले!" इस प्रकार धर्मीको भगवानके दर्शन बिना चैन नहीं पड़ता। (चेलना रानीको जिस प्रकार श्रेणिकके राज्यमें पहले चैन नहीं पड़ता था; उसी प्रकार।) अन्तरमें अपने धर्मकी लगन है और पूर्णदशाकी भावना है इसलिए पूर्णदशाको प्राप्त भगवानको मिलने हेतु धर्मीके अन्तरमें तीव्र इच्छा आ गई है; साक्षात् तीर्थंकरके वियोगमें उनकी वीतरागप्रतिमाको भी जिनवर समान ही समझकर भक्तिसे दर्शन-पूजा करता है, और वीतरागके प्रति बहुमानके कारण ऐसी भक्ति-स्तुति करता है कि देखनेवालोंके रोम-रोम पुलकित हो जाते हैं।—इस प्रकार जिनेन्द्रदेवके दर्शन, मुनिवरोंकी सेवा, शास्त्र-स्वाध्याय, दानादिमें श्रावक प्रतिदिन लगा रहता है।

यहाँ तो मुनिराज कहते हैं कि शक्ति होनेपर भी प्रतिदिन जो जिनदेवके दर्शन नहीं करता वह श्रावक ही नहीं, वह तो पत्थरकी नौकामें बैठकर भवसागरमें डूबता है। तो फिर वीतराग-प्रतिमाके दर्शन-पूजनका जो निषेध करे उसकी तो बात ही क्या करना?—इसमें तो जिनमार्गकी अतिविराधना है। अरे, सर्वज्ञको पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो गई वैसी परमात्मदशाका जिसे प्रेम होवे, उसे उनके दर्शनका उल्लास आये बिना कैसे रहे? वह तो प्रतिदिन भगवानके दर्शन करके अपनी परमात्मदशारूप ध्येयको प्रतिदिन ताजा रखता है।

भगवानके दर्शनकी तरह मुनिवरोंके प्रति भी धर्मीको परमभक्ति होती है। भरत चक्रवर्ती जैसे भी महान आदरपूर्वक भक्तिसे मुनियोंको आहारदान देते थे, और अपने

आदर-सत्कार करना चाहिये। 'संमताः' अर्थात् कि वह इष्ट है, धर्मात्माओंको मान्य है, प्रशंसनीय है।

देखिये, जहाँ श्रावक रहते हों वहाँ जिनमन्दिर तो होना ही चाहिये। थोड़े श्रावक हों और छोटा गाँव हो तो दर्शन-पूजन हेतु चाहे छोटा-सा ही चैत्यालय पहिले बनवावे। पूर्वकालमें कई श्रावक घरमें ही चैत्यालय स्थापित करते थे। देखिये न, मूड़विद्री (दक्षिण देश)में रत्नोंकी कैसी जिन-प्रतिमायें हैं? ऐसे जिनदेवके दर्शनसे तथा मुनि आदिके उपदेश श्रावणसे पहिलेके बँधे हुए पाप क्षणमें छूट जाते हैं। पहिले तो स्थान-स्थान पर ग्रामोंमें वीतरागी जिनमन्दिर थे, क्योंकि दर्शन बिना तो श्रावकका चले ही नहीं। दर्शन किये बिना खाना तो बासी भोजन समान कहा गया है। जहाँ जिनमन्दिर और जिनधर्म न हो वह गांव तो स्मशानतुल्य कहा गया है। अतः जहाँ-जहाँ श्रावक होते हैं वहां जिनमन्दिर होते हैं और मुनि आदि त्यागी धर्मात्मा वहाँ आया करते हैं, अनेक प्रकारके उत्सव होते हैं, धर्मचर्चा होती है; और इसके द्वारा पापका नाश तथा स्वर्ग-मोक्षका साधन होता है। जिनविम्बदर्शनसे निद्धत और निकाचित मिथ्यात्वकर्मके भी सैकड़ों टुकड़े हो जाते हैं ऐसा उल्लेख सिद्धान्तमें है; धर्मकी रुचि सहितकी यह बात है। 'अहो, यह मेरे ज्ञायकस्वरूपका प्रतिविम्ब! ऐसे भावसे दर्शन करने पर, सम्यग्दर्शन न हो तो नया सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है और अनादिके पापोंका नाश हो जाता है, मोक्षमार्ग खुल जाता है। गृहस्थ-श्रावकों द्वारा ऐसे जिनमन्दिरकी और धर्मकी प्रवृत्ति होती है, अतः आचार्यदेव कहते हैं कि वे श्रावक धन्य हैं! गृहस्थावस्थामें रहनेवाले भाई-बहिन भी जो धर्मात्मा होते हैं वे सज्जनों द्वारा आदरणीय होते हैं। श्राविका भी जैनधर्मकी ऐसी प्रभावना करती है; वह श्राविका-धर्मात्मा भी जगतके जीवों द्वारा सत्कार करने योग्य है। देखिये न, चेलनारानीने जैनधर्मकी कितनी प्रभावना की? इस प्रकार गृहस्थावस्थामें रहनेवाले श्रावक-श्राविका अपनी लक्ष्मी आदि न्योछावर करके भी धर्मकी प्रभावना करते रहते हैं। सन्तोंके हृदयमें धर्मकी प्रभावनाके भाव रहते हैं, धर्मकी शोभा हेतु धर्मात्मा-श्रावक अपना हृदय भी अर्पण कर देते हैं ऐसी धर्मकी तीव्र लगन इनके हृदयमें होती है। ऐसे श्रावकधर्मका यहाँ पद्मनन्दीस्वामीने इस अधिकारमें प्रकाश किया है—उद्योत किया है। इसका विस्तार और प्रचार करने जैसा है; अतः अपने प्रवचनमें यह अधिकार तीसरी बार पढ़ा जा रहा है। (इस पुस्तकमें तीनों बारके प्रवचनोंका संकलन है।)

देखिये, इस श्रावकधर्ममें भूमिका अनुसार आत्माकी शुद्धि तो साथ ही वर्तती

[२१]

जिनेन्द्र-भक्तिवंत श्रावक धन्य है !

श्रावक प्रगाढ़ जिनभक्तिसे जैनधर्मको शोभित करता है। शांत दशा प्राप्त धर्मी जीव किस प्रकारके होते हैं और वीतरागी देव-गुरुके प्रति उनकी भक्तिका उल्लास कैसा होता है उसका भी जीवोंको ज्ञान नहीं। इन्द्र जैसे भी भगवानके प्रति भक्तिसे कहते हैं कि हे नाथ ! इस वैभव-विलास में रहा हुआ हमारा यह जीवन कोई जीवन नहीं, सच्चा जीवन तो आपका है...केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवनसे आप ही जी रहे हैं।

काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेधर्मे गते क्षीणतां
तुच्छे सामायिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति।
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सोऽपि नो दृश्यते
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स वंद्यः सताम् ॥ २१ ॥

इस दुःखमा कालमें जब कि जिनेन्द्र भगवानका धर्म क्षीण होता जाता है, जैन-धर्मके आराधक धर्मात्मा-जीव भी बहुत थोड़े हैं और मिथ्यात्व-अंधकार बहुत फैल रहा है, जिनमन्दिर और जिन-प्रतिमाके प्रति भक्तिवन्त जीव भी बहुत नहीं दिखते, ऐसे इस कालमें जो जीव विधिपूर्वक जिनमन्दिर तथा जिन-प्रतिमा कराते हैं वे भव्य जीव सज्जनों द्वारा वंदनीय हैं।

जहाँ तीर्थंकर भगवान विराजते हैं वहाँ तो धर्मकी अविरत धारा चलती है, चक्रवर्ती और इन्द्र जैसे इस धर्मकी आराधना करते हैं। परन्तु वर्तमानमें तो यहाँ जैनधर्म बहुत घट गया है। तीर्थंकरोंका विरह, मुनिवरोंकी भी दुर्लभता, विपरीत मान्यताके पोषण करनेवाले मिथ्यामार्गोंका अन्त नहीं,—ऐसी विषमताके समूहके बीचमें भी जो जीव धर्मके

सूर्यके अन्दर शाश्वत जिनबिम्ब हैं, भरत चक्रवर्तीको चक्षु सम्बन्धी ज्ञानका इतना तीव्र क्षयोपशम था कि वे अपने महलमेंसे सूर्यमें रहे हुए जिनबिम्बका दर्शन करते थे। उस परसे प्रातः सूर्यदर्शनका रिवाज प्रचलित हो गया। लोग मूल वस्तुको भूल गये और सूर्यको पूजने लगे, शास्त्रोंमें स्थान-स्थान पर जिनप्रतिमाका वर्णन आता है। अरे, स्थानकवासी द्वारा माने हुए आगममें भी जिनप्रतिमाका उल्लेख आता है परन्तु वे उसका अर्थ विपरीत करते हैं। एक वार संवत् १९७८ में मैंने (पूज्य श्री कानजीस्वामीने) एक पुराने स्थानकवासी साधुसे पूछा कि इन शास्त्रोंमें जिन-प्रतिमाका भी वर्णन आता है,—क्योंकि "जिनके शरीर-प्रमाण ऊँचाई" ऐसी उपमा दी है, जो यह प्रतिमा यक्षकी हो तो जिन की उपमा नहीं देते।—तब उस स्थानकवासी साधुने यह बात स्वीकार की और कहा कि आपकी बात सत्य है—'है तो ऐसा ही'। तीर्थंकरकी ही प्रतिमा है; परन्तु बाहरमें ऐसा नहीं बोला जाता। तब ऐसा लगा कि अरे, यह क्या! अन्दर कुछ माने और बाह्यमें दूसरी बात कहे—ऐसा भगवानका मार्ग नहीं होता। इन जीवोंको आत्माकी दरकार नहीं; भगवानके मार्गकी दरकार नहीं; सत्यके शोधक जीव ऐसे सम्प्रदायमें नहीं रह सकते। जिनमार्गमें वीतराग मूर्तिकी पूजा अनादिसे चली आ रही है; बड़े-बड़े ज्ञानी भी उसे पूजते हैं। जिसने मूर्तिका निषेध किया उसने अनन्त ज्ञानियोंकी विराधना की है।

शास्त्रमें तो ऐसी कथा आती है कि जब महावीर भगवान् राजगृहीमें पधारे और श्रेणिक राजा उनकी वंदना करने जाते हैं तब एक मेंढक भी भक्तिसे मुंहमें फूल लेकर प्रभुकी पूजा करने जाता है; वह राहमें हाथीके पैरके नीचे दबकर मर जाता है और देवपर्यायमें उत्पन्न होकर तुरन्त भगवान्के समवशरणमें आता है। धर्मी जीव भगवान्के दर्शन करते हुवे साक्षात् भगवान्को याद करता है कि अहो, भगवान्! अहो सीमन्धर-नाथ! आप विदेहक्षेत्रमें हो और मैं यहाँ भरतक्षेत्रमें हूँ, आपके साक्षात् दर्शनका मुझे विरह हुआ! प्रभो ऐसा अवसर कब आवे कि आपका विरह दूर हो, अर्थात् राग-द्वेषका सर्वथा नाश करके आप जैसा वीतराग कब होऊँ! धर्मी ऐसी भावना द्वारा रागको तोड़ता है, अर्थात् भगवान्से वह क्षेत्र अपेक्षा दूर होते हुए भी भावसे समीप है कि हे नाथ! इस वैभव-विलासमें रचापचा हमारा जीव यह कोई जीवन नहीं, वास्तविक जीवन तो आपका है; आप केवलज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्दमय जीवन जी रहे हो, वही सच्चा जीवन है। प्रभो, हमें भी यही उद्यम करना है। प्रभो, वह घड़ी धन्य है कि जब मैं मुनि होकर आपके जैसा केवलज्ञानका साधन करूँगा, ऐसा पुरुषार्थ नहीं जागता तब तक धर्मी जीव श्रावकधर्मका पालन करता है, और दान, जिनपूजा आदि कार्यों द्वारा वह अपने गृहस्थजीवनको सफल करता है।

[२२]

सच्ची जिनभक्तिमें वीतरागताका आदर

धर्मीके थोड़े शुभभावका भी महान फल है—तो इसकी शुद्धताकी महिमाकी तो क्या बात ! जिसे अन्तरमें वीतरागभाव रुचा उसे वीतरागताके बाह्य निमित्तोंके प्रति भी कितना उत्साह हो ! जिनमन्दिर बनवानेकी बात तो दूर रही परन्तु वहां दर्शन करने जानेका भी जिसे अवकाश नहीं—उसे धर्मका प्रेम कौन कहे ?

वीतरागी जिनमार्गके प्रति श्रावकका उत्साह कैसा होता है और उसका फल क्या होता है वह कहते हैं—

विम्बादलोन्नति यवोन्नतिमेव भक्त्या
ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता
स्तोतुं परस्य किमु कारयितुः द्वयस्य ॥ २२ ॥

जो जीव भक्तिसे वेलके पत्र जितना छोटा जिनमन्दिर बनवाता है और जो जौके दाने जितनी जिन-आकृति (जिनप्रतिमा) स्थापित कराता है उसके महान पुण्यका वर्णन करनेके लिए इस लोकमें सरस्वती (-वाणी) भी समर्थ नहीं; तो फिर जो जीव यह दोनों कराता है, अर्थात् ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिर बनवाता है और अतिशय भव्य जिनप्रतिमा स्थापित करवाता है—उसके पुण्यकी तो क्या बात !

देखो, इसमें "भक्तिपूर्वक" की मुख्य बात है। मात्र प्रतिष्ठा अथवा मान-सन्मानके लिए अथवा देखादेखीसे कितने ही पैसे खर्च कर दे उसकी यह बात नहीं परन्तु भक्तिपूर्वक अर्थात् जिसे सर्वज्ञ भगवानकी कुछ पहचान हुई है और अन्तरमें बहुमान पैदा हुआ है कि अहो, ऐसे वीतरागी सर्वज्ञदेव ! ऐसे भगवानको मैं अपने अन्तरमें स्थापित

बिगाड़ी, परन्तु धर्मकी तरफके कुछ भाव किये हैं—इस प्रकार तुझे धर्मके बहुमानका भाव रहा करेगा। इसका ही लाभ है और ऐसे भावके साथमें जो पुण्य बँधता है वह भी लौकिक दया-दानकी अपेक्षा उच्च कोटिका होता है। एक मकान बाँधनेवाला कारीगर जैसे-जैसे मकान ऊँचा होता जाता है वैसे-वैसे वह भी ऊँचा चढ़ता जाता है, उसी प्रकार धर्मी जीव जैसे-जैसे शुद्धतामें आगे बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसके पुण्यका रस भी बढ़ता जाता है।

जिन-मन्दिर और जिन-प्रतिमा करानेवालेके भावमें क्या है?—इसके भावमें वीतरागताका आदर है और रागका आदर छूट गया है। ऐसे भावसे करावे तो सच्ची भक्ति कहलाती है; और वीतरागभावके बहुमान द्वारा वह जीव अल्पकालमें रागको तोड़कर मोक्ष प्राप्त करता है। परन्तु, यह बात लक्ष्यमें लिए बिना, ऐसे ही कोई कह दे कि तुमने मन्दिर बनवाया इसलिए ८ भवमें तुम्हारा मोक्ष हो जावेगा, यह बात सिद्धान्तकी नहीं है। भाई, श्रावकको ऐसा शुभभाव होता है यह बात सत्य है, परन्तु इस रागकी जितनी हद हो उतनी रखनी चाहिये। इस शुभ रागके फलसे उच्च कोटिका पुण्य बँधनेका कहा है परन्तु उससे कर्मक्षय होनेका भगवानने नहीं कहा है। कर्मका क्षय तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे ही कहा है।

अरे, सच्चा मार्ग और सच्चे तत्त्वको समझे बिना जीव कहीं अटक जाता है। शास्त्रमें व्यवहारके कथन तो अनेक प्रकारके आते हैं, परन्तु मूल तत्त्वको और वीतराग-भावरूप मार्गको लक्ष्यमें रखकर इसका अर्थ समझना चाहिये। शुभरागसे ऊँचा पुण्य बंधता है—ऐसा बतलानेके लिए उसकी महिमा की, वहाँ कोई उसमें ही धर्म मानकर अटक जाता है। अन्य कितने ही जीव तो भगवानका जिन-मन्दिर होता है वहाँ दर्शन करने भी नहीं जाते! भाई, जिसे वीतरागताका प्रेम होता है और जहाँ जिन-मन्दिरका योग हो वहाँ वह भक्तिसे रोज दर्शन करने जाता है। जिन-मन्दिर बनवानेकी बात तो दूर रही, परन्तु वहाँ दर्शन करने जानेका भी जिसे अवकाश नहीं उसे धर्मका प्रेम कौन कहे ? बड़े-बड़े मुनि भी वीतराग प्रतिमाका भक्तिसे दर्शन करते हैं और उसकी स्तुति करते हैं। पोन्नूर ग्राममें एक पुराना मन्दिर है, कुन्दकुन्दाचार्यदेव ग्राममें आवे तब वे वहाँ दर्शन करने जाते थे। (संवत् २०२० की यात्रामें आपने वह मन्दिर देखा है) समन्तभद्र-स्वामीने भी भगवानकी अद्भुत स्तुति की है। २००० वर्ष पूर्व किसी बड़े राजाको जिन-बिम्ब-प्रतिष्ठा करवाना थी तब उसकी विधिके लिये शास्त्र रचनेकी आज्ञा कुन्दकुन्दा-चार्यदेवने अपने शिष्य जयसेन मुनिको दी, उन जयसेनस्वामीने मात्र दो दिनमें प्रतिष्ठा-

धर्मी भक्तोंको उल्लास होता है। वादिराज स्वामी कहते हैं—प्रभो! आप जिस नगरीमें अवतार लेते हैं वह नगरी सोनेकी हो जाती हैं, तो ध्यान द्वारा मैंने मेरे हृदयमें आपको स्थापित किया और यह शरीर बिना रोगके सोने जैसा न होवे वह कैसे हो सकता है? और आपको आत्मामें विराजमान करते ही आत्मामेंसे मोहरोग नष्ट होकर शुद्धता न होवे यह कैसे बने?

धर्मी श्रावकको, उसीप्रकार धर्मके जिज्ञासु जैनको ऐसा भाव आता है कि अहो; मैं मेरे वीतरागस्वभावके प्रतिबिम्बरूप इस जिनमुद्राको प्रतिदिन देखूँ। जिस प्रकार माताको बिना पुत्रके चैन न पड़े उसीप्रकार भगवानके विरहमें भगवानके दर्शन बिना भगवानके पुत्रोंको- भगवानके भक्तोंको चैन नहीं पड़ता। चेलना रानी श्रेणिक राजाके राज्यमें आई परन्तु श्रेणिक तो बौद्ध धर्मको मानता था, इसलिये उसे वहाँ जैनधर्मकी छटा नहीं दिखी, इस कारण चेलनाको किसी प्रकार चैन नहीं पड़ा, आखिरमें राजाको समझाकर बड़े-बड़े जिन-मन्दिर बनवाए और श्रेणिक राजाको भी जैनधर्म ग्रहण करवाया इसीप्रकार हरिषेण चक्रवर्तीकी भी कथा आती है।—इनकी माता जिनदेवकी विशाल रथयात्रा निकालनेकी माँग करती रहीं परन्तु दूसरी रानियोंने उस रथको रुकवा दिया इसलिये हरिषेणकी माताने अनशनकी प्रतिज्ञा ली थी कि मेरे जिनेन्द्र भगवानका रथ धूमधामसे निकलेगा तभी मैं आहार लूंगी।—आखिर में उसके पुत्रने चक्रवर्ती होकर बड़ी धूमधामसे भगवानकी रथयात्रा निकाली। अकलंक स्वामीके समयमें भी ऐसी ही बात हुई और उन्होंने बौद्ध गुरुको वाद-विवादमें हराकर भगवानकी रथयात्रा निकलवायी और जैनधर्मकी बहुत प्रभावना की। (इन तीनोंके—चेलनारानी, हरिषेण चक्रवर्ती और अकलंक स्वामी धार्मिक नाटक सोनगढ़में हो चुके हैं।) इस प्रकार धर्मी श्रावक भक्तिपूर्वक जिन-शासनकी प्रभावना करते हैं, जिन-मन्दिर बंधवाते हैं, वीतराग जिनबिम्बकी स्थापना करते हैं और इसके कारण उन्हें अतिशय पुण्य बंधता है। चाहे छोटीसी वीतराग प्रतिमा हो परन्तु स्थापनामें त्रैकालिक वीतरागमार्गका आदर है। इस मार्गके आदरसे ऊँचा पुण्य बंधता है।—इस प्रकार जिनदेवके भक्त धर्मी-श्रावक अत्यन्त बहुमानसे जिन-मन्दिर तथा जिन-बिम्बकी स्थापना करते हैं यह बात कही तथा इसका उत्तम फल बतलाया।

जहाँ जिन-मन्दिर होता है वहाँ सदैव धर्मके नये-नये मंगल-उत्सव होते रहते हैं; यह बात अब अगली गाथामें कहेंगे।

——
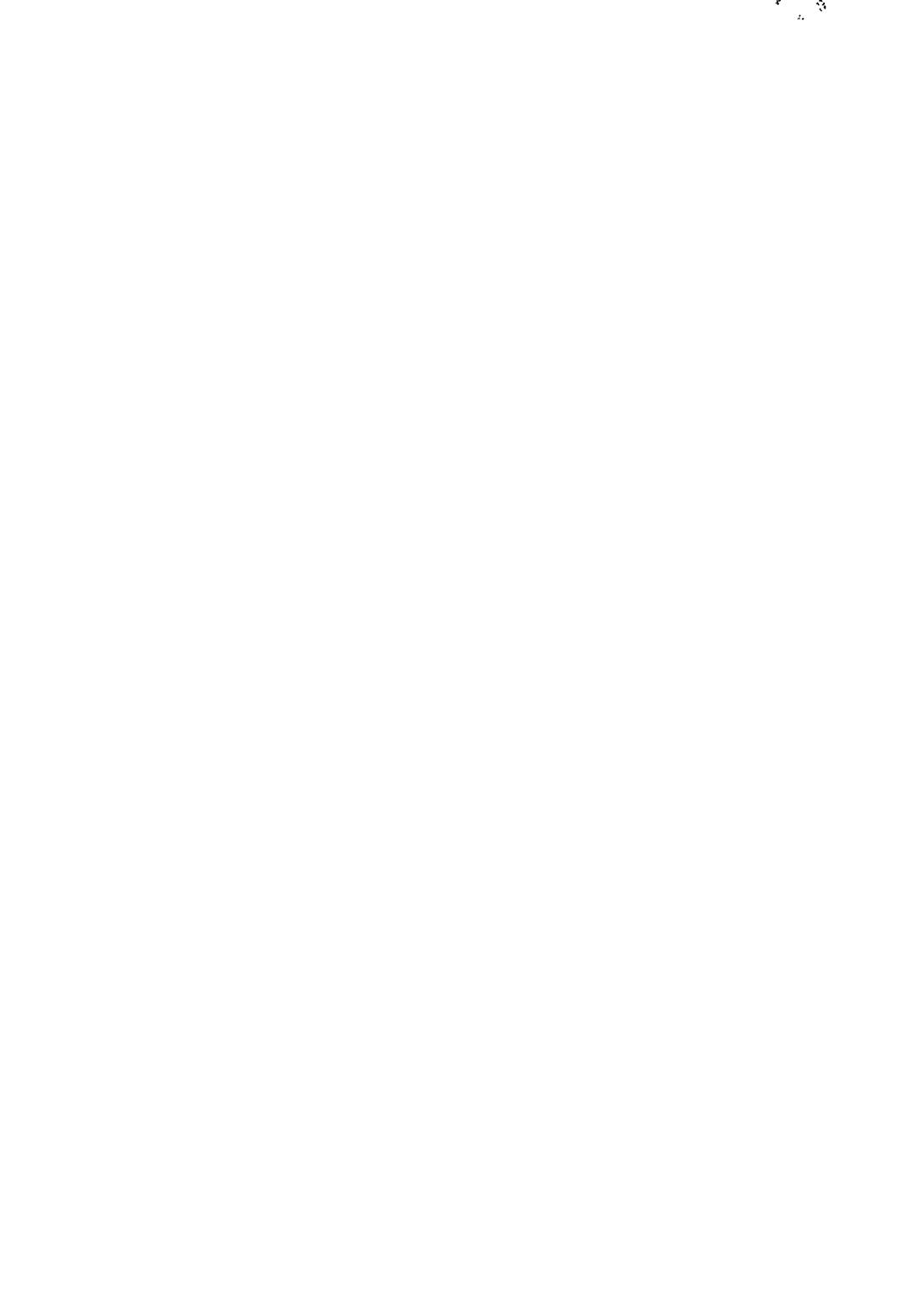
लेना चाहिये। धर्मके उत्सवमें जो भक्तिपूर्वक भाग नहीं लेता, जिसके घरमें दान नहीं होता उसे शास्त्रकार कहते हैं कि भाई! तेरा गृहस्थाश्रम शोभा नहीं पाता। जिस गृहस्थाश्रममें रोज-रोज धर्मके उत्सव हेतु दान होता है, जहाँ धर्मात्माका आदर होता है वह गृहस्थाश्रम शोभा पाता है और वह श्रावक प्रशंसनीय है। अहा! शुद्धात्माको दृष्टिमें लेते ही जिसकी दृष्टिमेंसे सभी राग छूट गया है उसके परिणाममें रागकी कितनी मन्दता होती है और यह मन्द राग भी सर्वथा छूटकर वीतरागता होवे तब केवलज्ञान और मुक्ति होती है।—ऐसे मोक्षका जो साधक हुआ है उसे रागका आदर कैसे होवे? अपने वीतराग स्वभावका जिसे भान है वह सामने वीतरागबिम्बको देखते ही साक्षात्‌की तरह ही भक्ति करता है, क्योंकि इसने अपने ज्ञानमें तो भगवान साक्षात्‌रूप देखे हैं ना!

श्रावकको स्वभावके आनन्दका अनुभव हुआ है, स्वभावके आनन्दसागरमें एकाग्र होकर बारम्बार उसका स्वाद चखता है, उपयोगको अन्तरमें जोड़कर शान्तरसमें बारम्बार स्थिर होता है, परन्तु वहाँ विशेष उपयोग नहीं ठहरता इसलिये अशुभ प्रसंगोंको छोड़कर शुभ प्रसंगमें वह वर्तता है, उसका यह वर्णन है। ऐसी भूमिकावाला आयु पूर्ण होने पर स्वर्गमें ही आवे-ऐसा नियम है, क्योंकि श्रावकको सीधी मोक्षप्राप्ति नहीं होती, सर्वसंगत्यागी मुनिपनेके बिना सीधी मोक्ष प्राप्ति किसीको नहीं होती। साथ ही पंचमगुणस्थानी श्रावक स्वर्ग सिवाय अन्य कोई गतिमें भी नहीं जाता। अतः श्रावक शुभभावके फलमें स्वर्गमें ही जाता है, और पीछे क्या होता है वह बात आगेकी गाथामें कहेंगे।

श्रावकको केवल व्यवहारसाधन है ऐसा नहीं, किन्तु उसे भी अंशरूप निश्चयसाधन होता है; और वह निश्चयके बलसे ही (अर्थात् शुद्धिके बलसे ही) आगे बढ़कर राग तोड़कर केवलज्ञान और मोक्ष पाता है। श्रावकको अभी शुद्धता कम है और राग शेष है—इसलिये वह स्वर्गमें महान ऋद्धि सहित देव होता है। श्रावक मरकर कभी भी विदेहक्षेत्रमें जन्म नहीं लेता। मनुष्यगतिसे मरकर विदेहक्षेत्रमें उत्पन्न होने वाला तो मिथ्यादृष्टि ही होता है। पहले बँधी हुइ आयुके कारण जो समकिती मनुष्य पुनः सीधा मनुष्य ही बने वह तो असंख्य वर्षकी आयु वाली भोगभूमिमें ही जन्म लेवे, विदेह आदिमें जन्म नहीं लेता, और पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक तो कभी मनुष्यपर्यायमेंसे मनुष्य होता ही नहीं, देवगतिमें ही जाता है, ऐसा नियम है। सम्यक्दृष्टि मनुष्य कभी मनुष्य, तिर्यंच अथवा नरककी आयु नहीं बाँधता; मनुष्यगतिमें ये तीनों आयु मिथ्यादृष्टिकी भूमिकामें ही बँधती हैं; आयु बँधने पर चाहे सम्यक्दर्शन प्राप्त हो जाय—यह बात अलग है, परन्तु इन तीनमेंसे कोई आयु बाँधते समय तो वह मनुष्य मिथ्यादृष्टि ही होता है। सम्यक्दृष्टि देव होवे या नारकी हो वह मनुष्यकी आयु बाँध सके, परन्तु सम्यक्दृष्टि मनुष्य यदि उसे भव होवे और आयु बाँधे तो देवगतिकी आयु बाँधे, अन्य न बाँधे—ऐसा नियम है।

गृहस्थपनेमें अधिक से अधिक पांचवें गुणस्थान तककी भूमिका होती है, इससे ऊँची भूमिका नहीं होती, वह अधिकसे अधिक एक भवावतारी हो सके परन्तु गृहस्थावस्थामें मोक्ष नहीं पा सकता। बाह्य-अभ्यन्तर दिगम्बर मुनिदशा हुए बिना कोई जीव मोक्ष नहीं पा सकता। श्रावक-धर्मात्मा आराधकभावके साथ उत्तम पुण्यके कारण वहाँसे वैमानिक देवलोकमें जाता है, वहां अनेक प्रकार महानऋद्धि और वैभव होते हैं, परन्तु धर्मी उसमें मूर्छित (मोहित) नहीं होता, वह वहां भी आराधना चालू रखता है। उसने आत्माका सुख चखा है इसलिये बाह्य वैभवमें मूर्छित नहीं होता। स्वर्गमें जन्म होने पर वहां सबसे पहले उसे ऐसा भाव होता है कि—अहो! यह तो मैंने पूर्वभवमें धर्मका सेवन किया उसका प्रताप है, मेरी आराधना अधूरी रह गई, और राग शेष रहा इस कारण यहाँ अवतार हुआ, पहले जिनेन्द्रभगवानकी पूजन-भक्ति की थी उसका यह फल है; इसलिये चलो, सबसे पहले जिनेन्द्र भगवानका पूजन करना चाहिये। ऐसा कहकर स्वर्गमें जो शाश्वत जिनप्रतिमा हैं उनकी पूजा करता है। इस प्रकार वह स्वर्गमें भी आराधकभाव चालू रखकर वहां असंख्य वर्षकी आयु पूर्ण होने पर उत्तम मनुष्यकुलमें जन्म लेता है, और योग्य कालमें वैराग्य पाकर मुनि होकर आत्मसाधना पूर्ण करके केवलज्ञान प्रगट करके सिद्धालयमें जाता है।

रह गया है, इसलिये बीचमें स्वर्गका भव होता है, परन्तु इसका ध्येय कोई वहाँ रुकनेका नहीं, इसका ध्येय तो परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति करना ही है। मनुष्यभवमें हो अथवा स्वर्गमें हो, परन्तु वह परमात्मपदकी प्राप्तिकी भावनासे ही जीवन विताता है। देखो तो, श्रीमद् राजचन्द्र जी भी गृहस्थपनामें रहकर मुनिदशाकी कैसी भावना भाते थे? ('अपूर्व-अवसर' काव्यमें मुनिपदसे लेकर सिद्धदशा तकके परमपदकी भावना भायी है।) आंशिक शुद्ध-परणति सहित धर्मात्माका जीवन भी अलौकिक होता है।

पुण्य और पाप, अथवा शुभ या अशुभ राग विकृति है; उसके अभावसे आनन्ददशा प्रगट होती है वह स्वाभाविक मुक्तदशा है। श्रावक साधकको भी ऐसी आनन्ददशाका नमूना प्रगट हो गया है।—ऐसी दशाको पहचानकर उसकी भावना भाकर जिस प्रकार बने उस प्रकार स्वरूप में रमणता बढ़ने और रागको घटानेका प्रयत्न करना, जिससे अल्पकालमें पूर्ण परमात्मदशा प्रगट होनेका प्रसंग आवे।

भाई, सम्पूर्ण राग न छूटे और तू गृहस्थदशामें हो तब तेरी लक्ष्मीको धर्मप्रसंगमें खर्च करके सफल कर। जैसे चन्द्रकान्त-मणिकी सफलता कब कि चन्द्रकिरणके स्पर्शसे उसमेंसे अमृत झरे तब, उसी प्रकार लक्ष्मीकी शोभा कब? कि सत्पात्रके योगसे वह दानमें खर्च होवे तब। श्रावक-धर्मी जीव निश्चयसे तो अन्तरमें स्वयं अपने को वीतरागभावका दान करता है, और शुभराग द्वारा मुनियोंके प्रति, साधर्मियोंके प्रति भक्तिसे दानादि देता है, जिनेन्द्रदेवकी पूजनादि करता है;—ऐसा उसका व्यवहार है। इस प्रकार चौथी-पाँचवीं भूमिकामें धर्मीको ऐसा निश्चय-व्यवहार होता है। कोई कहे कि चौथी भूमिकामें जरा भी निश्चयधर्म नहीं होता—तो वह बात असत्य है; निश्चय बिना मोक्षमार्ग कैसा? और, वहाँ निश्चयधर्मके साथ पूजा-दान अणुव्रत आदि जो व्यवहार है उसे भी जो न स्वीकारे तो वह भी भूल है। जिस भूमिकामें जिस-प्रकारका निश्चय-व्यवहार होता है उसे बराबर स्वीकार करना चाहिये। व्यवहारके आश्रयसे मोक्षमार्ग माने तो ही व्यवहारको स्वीकार किया कहा जाय—ऐसा श्रद्धान ठीक नहीं है। बहुतसे ऐसा कहते हैं कि तुम व्यवहारके अवलम्बनसे मोक्ष होना नहीं मानते, इसलिये तुम व्यवहारको ही नहीं मानते,—परन्तु यह बात बराबर नहीं है। जगतमें तो स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, जीव-अजीव सब तत्त्व हैं, उनके आश्रय से लाभ माने तो ही उन्हें स्वीकार किया कहा जावे ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है; इसी प्रकार व्यवहारको भी समझना।

मुनिधर्म और श्रावकधर्म ऐसे दोनों प्रकारके धर्मोंका भगवानने उपदेश दिया है। इन दोनों धर्मोंका मूल सम्यग्दर्शन है। वहाँ स्वानुभवके बल द्वारा जितना राग दूर

कोई जीव देवमेंसे सीधा देव नहीं होता।
कोई जीव देवमेंसे सीधा नारकी नहीं होता।
कोई जीव नारकीमेंसे सीधा नारकी नहीं होता।
कोई जीव नारकीमेंसे सीधा देव नहीं होता।
देव मरकर मनुष्य अथवा तिर्यंचमें उपजे।
नारकी मरकर मनुष्य अथवा तिर्यंचमें उपजे।
मनुष्य मरकर चारोंमेंसे कोई भी गतिमें उपजे।
तिर्यंच मरकर चारोंमेंसे कोई भी गतिमें उपजे।

यह सामन्य बात की, अब सम्यग्दृष्टिकी बातः—

देवमेंसे सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्यमें ही अवतरे।
नरकमेंसे सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्यमें ही आवे।
मनुष्य सम्यग्दृष्टि जीव देवगतिमें जावे, परन्तु
जो मिथ्यात्वदशामें आयु बंध गई हो तो
नरक अथवा तिर्यंच अथवा मनुष्यमें भी जावे।
तिर्यंच सम्यग्दृष्टि जीव देवगतिमें ही जावे,

और पंचमगुण स्थानवर्ती श्रावक (तिर्यंच हो या मनुष्य)
वह तो नियमसे स्वर्गमें ही जावे, अन्य किसी
गतिका आयुष्य उसे नहीं होता।

इस प्रकार धर्मी श्रावक स्वर्गमें जाता है, और वहाँसे मनुष्य होकर चौदह प्रकारका अन्तरंग और दस प्रकारका बाह्य—सर्व परिग्रह छोड़कर, मुनि होकर, शुद्धताकी श्रेणी मांड़कर, सर्वज्ञ होकर सिद्धलोकको जाता है, वहाँ सदाकाल अनन्त आत्मिक-आनन्दका भोग करता है। अहा, सिद्धोंके आनन्दका क्या कहना।

इस प्रकार सम्यक्त्वसहित अणुव्रतरूप श्रावकधर्म वह श्रावकको परम्परासे मोक्षका कारण है, इसलिये श्रावक उस धर्मको अंगीकार करके उसका पालन करें—ऐसा उपदेश है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो, सच्चा सुख तो एक मोक्षपदमें ही है, अतः मुमुक्षुओंको उसका ही पुरुषार्थ करना चाहिये। इसके सिवाय अन्य भाव तो विपरीत होनेसे हेय हैं। देखिये, इसे विपरीत और हेय कहा उसमें शुभराग भी आ गया। इस प्रकार उसे विपरीत और हेयरूपमें स्वीकार करके, पश्चात् यदि वह मोक्षमार्ग सहित होवे तो उसे मान्य किया है, अर्थात् व्यवहारसे उसे मोक्षमार्गमें स्वीकार किया है। परन्तु जो साथमें निश्चय मोक्षसाधन (सम्यग्दर्शनादि) न होवे तो मोक्षमार्ग बिना ऐसे अकेले शुभरागको मान्य नहीं करते अर्थात् उसे व्यवहार मोक्षसाधन भी नहीं कह सकते। इसके सिवाय जो काम और अर्थ सम्बन्धी पुरुषार्थ है वह तो पाप ही है, अतः सर्वथा हेय है।

भाई, उत्तम सुखका भंडार तो मोक्ष है; अतः मोक्षपुरुषार्थ ही सर्व पुरुषार्थमें श्रेष्ठ है। पुण्यका पुरुषार्थ भी इसकी अपेक्षा अल्प है; और संसारके विषयों की प्राप्ति हेतु जितने प्रयत्न हैं वे तो एकदम पाप हैं अतः वे सर्वथा त्याज्य हैं। अब साधकको पुरुषार्थके साथ अणुव्रतादि शुभरागरूप जो धर्मपुरुषार्थ है वह असद्भूत व्यवहारसे मोक्षका साधन है अतः श्रावककी भूमिकामें वह भी व्यवहारनयके विषयमें ग्रहण करने योग्य है। मोक्षका पुरुषार्थ तो सर्व श्रेष्ठ है, परन्तु उसके अभावमें (अर्थात् निचली साधक दशामें) व्रत-महाव्रतादिरूप धर्मपुरुषार्थ जरूर ग्रहण करना चाहिये। अज्ञानी भी पाप छोड़कर पुण्य करता है तो इसे कोई अस्वीकार नहीं करते; पापकी अपेक्षा तो पुण्य भला ही है। परन्तु कहते हैं कि भाई, मोक्षमार्ग बिना तेरा अकेला पुण्य शोभा नहीं पाता है; क्योंकि जिसे मोक्षमार्गका लक्ष्य नहीं, वह तो पुण्यके फलमें मिले हुये भोगोंमें आसक्त होकर पुनः पापमें चला जावेगा। अतः बुधजन-ज्ञानी-विद्वान ऐसे पुण्यको परमार्थसे तो पाप कहते हैं। (देखो, योगीन्द्रदेव आचार्यकृत योगसार दोहा ७१-७२, समयसार गाथा १६३, पश्चात् श्री जयसेनाचार्यकी सं. टीकामें परिशिष्ट पुण्य-पाप अधिकार।)

मोक्षमें ही सच्चा सुख है ऐसा जो समझे वह रागमें या पुण्यफलमें सुख कैसे माने ?—नहीं ही माने। जिसकी दृष्टि अकेले रागमें है और उसके फलमें मिले सुख लगता है उसे तो शुभभावके साथ भोगकी अभिलाषा पड़ी है, अतः उस शुभको मोक्ष-मार्गमें मान्य नहीं करते, मोक्षके साधनका व्यवहार उसे लागू नहीं पड़ता है। धर्मीको मोक्षमार्ग साधते-साधते बीचमें अभिलाषा रहित और श्रद्धामें हेयबुद्धि सहित शुभराग रहता है, उसमें मोक्षके साधनका व्यवहार लागू पड़ता है। परन्तु शुभको ही जो अज्ञानी श्रद्धामें इष्ट मानकर अपनाता है वह रागसे दूर कैसे होवेगा ? और रागरहित मोक्षमार्गमें कहाँ से आवेगा ? ऐसे जीवके शुभको तो 'भोग हेतु धर्म' समयसारमें कहा है, उसे

धर्ममें चरण पड़ते हैं, इसके बिना तो कलश टीकामें पण्डित श्री राजमलजी कहते हैं— 'मरके चूरा होते हुए बहुत कष्ट करते हैं तो करो, तथापि ऐसा करते हुए कर्मक्षय तो नहीं होता'। देखो, ३०० वर्ष पहले पंडित बनारसीदासजीने श्री राजमलजीको 'समयसार नाटकके मरमी' कहा है।

श्रावकधर्मके मूलमें भी सम्यग्दर्शन तो होता ही है। ऐसे सम्यक्त्व सहित राग घटानेका जो उपदेश है वह हितकारी उपदेश है। भाई, किसी भी प्रकार जिनमार्गको पाकर तू स्वद्रव्यके आश्रयके बल द्वारा राग घटा उसमें तेरा हित है; दान आदिका उपदेश भी उसी हेतु दिया गया है। कोई कहे कि खूब पैसा मिले तो उसमेंसे थोड़ा दानमें लगाऊँ (दस लाख मिले तो एक लाख लगाऊँ—इसमें तो उलटी भावना हुई, लोभका पोषण हुआ, पहले घरको आग लगा और पीछे कुआँ खोदकर उसके पानीसे आग बुझाना--इस प्रकारकी यह मूर्खता है। वर्तमानमें पाप बाँधकर पीछे दानादि करनेको कहता है, इसकी अपेक्षा वर्तमानमें ही तू तृष्णा घटा ले ना भाई। एक बार आत्माको जोर देकर तेरी रुचि की दिशा ही बदल डाल कि मुझे राग अथवा रागके फल कुछ नहीं चाहिये, आत्माकी शुद्धताके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मुझे नहीं चाहिये। —ऐसी रुचिकी दिशा पलटनेसे तेरी दशा पलट जावेगी, अपूर्व दशा प्रगट हो जावेगी।

धर्मीको जहाँ आत्माकी अपूर्व दशा प्रगट हुई वहाँ उसे देहमें भी एक प्रकारकी अपूर्वता आ गई, क्योंकि सम्यक्त्व आदिमें निमित्तभूत होवे ऐसी देह पूर्वमें कभी नहीं मिली थी; अथवा सम्यक्त्व सहितका पुण्य जिसमें निमित्त हो ऐसी देह पूर्वमें मिथ्यात्व-दशामें कभी नहीं मिली थी। वाह, धर्मीका आत्मा अपूर्व, धर्मीका पुण्य भी अपूर्व और धर्मीका देह भी अपूर्व। धर्मी कहता है कि यह देह अन्तिम है अर्थात् फिरसे ऐसा (विराधकपनाका) देह मिलनेका नहीं; कदाचित कुछ भव होंगे और देह मिलेंगे तो वे आराधकभाव सहित ही होंगे, अतः उसके रजकण भी पूर्वमें न आये हों ऐसे अपूर्व होंगे, क्योंकि यहाँ जीवके भावमें (शुभमें भी) अपूर्वता आ गई है; धर्मी जीवकी सभी बातें अलौकिक हैं। भक्तामर-स्तोत्रमें मानतुंगस्वामी भगवानकी भक्ति करते हुए कहते हैं कि हे प्रभो! जगतमें उत्कृष्ट शान्तरसरूप परिणमति जितने रजकण थे वे सब आपकी देहरूप परिणमति हो गये हैं।—इस कथनमें गहन भाव भरे हैं। प्रभो, आपके केवल-ज्ञानकी और चैतन्यके उपशमरसकी तो अपूर्वता, और उसके साथकी परम औदारिक देहमें अपूर्वता,—ऐसी देह अन्यको नहीं होती। आराधककी सभी बातें जगतसे अनोखी हैं, उसके आत्माकी शुद्धता भी जगतसे अनोखी है और इसका पुण्य भी अनोखा है।

[२६]

मोक्षकी साधनासहित ही अणुव्रतादिकी सफलता

हे भव्य ! तेरा साध्य मोक्ष है; अर्थात् व्रत अथवा महाव्रतके पालनमें उस-उस प्रकारकी अंतरंग शुद्धि बढ़ती जाय और मोक्षमार्ग सधता जाय-उसे तू लक्ष्यमें रखना। मोक्षके ध्येयको चूककर जो कुछ करनेमें आवे वह तो दुःख और संसारका ही कारण है।

धर्मी जीवको मोक्ष ही साध्यरूप है, मोक्षरूप साध्यको भूलकर जो अन्यका आदर करता है उसके व्रतादि भी संसारके ही कारण होते हैं—ऐसा अब कहते हैं—

> भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभिः साध्योऽत्र मोक्षः परं
> नान्यत्किंचिदिहैव निश्चयनयात् जीवः सुखी जायते।
> सर्वं तु व्रतजातमिदृशधिया साफल्यमेत्यन्यथा
> संसाराश्रयकारणं भवति यत् तद्दुःखमेव स्फुटम् ॥ २६ ॥

यहाँ भव्य जीवको अणुव्रत अथवा महाव्रत द्वारा मात्र मोक्ष ही साध्य है, संसार सम्बन्धी अन्य कोई भी साध्य नहीं, क्योंकि निश्चयनयसे मोक्षमें ही जीव सुखी होता है। ऐसी बुद्धि अर्थात् मोक्षकी बुद्धिसे जो व्रतादि करनेमें आते हैं वे सर्व सफल हैं। परन्तु इस मोक्षरूपी ध्येयको भूलकर जो व्रतादि करनेमें आते हैं वे तो संसारके कारण हैं और दुःख ही हैं।

देखो, अधिकार पूरा करते हुए अन्तमें स्पष्ट करते हैं कि भाई, हमने श्रावकके धर्मरूपमें पूजा-दान आदि अनेक शुभभावोंका वर्णन किया तथा अणुव्रत आदिका वर्णन किया,—परन्तु उसमें जो शुभराग है उसे साध्य न मानना, उसको ध्येय न मानना, ध्येय और साध्य तो 'सम्पूर्ण वीतरागभावरूप' मोक्ष ही है, और वहीं परम सुख है। धर्मीकी दृष्टि-रुचि रागमें नहीं, उसे तो मोक्षको साधनेकी ही भावना है; सदा सुख [illegible]
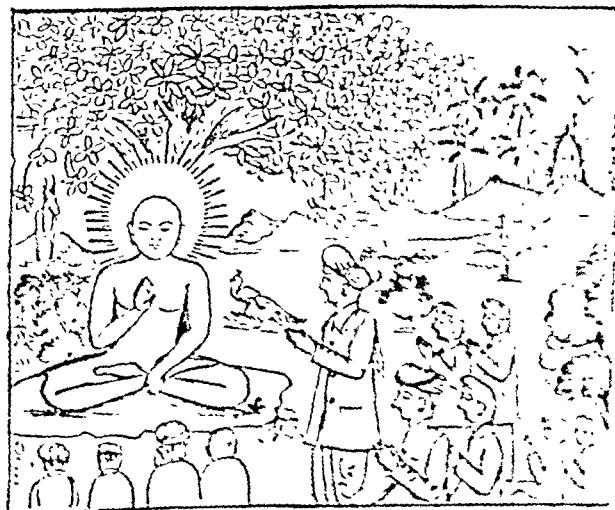
आदरणीय कैसे कहा जाय ? भाई, तुझसे सम्पूर्ण राग अभी चाहे न छूटे सके, परन्तु यह छोड़ने योग्य है ऐसा सच्चा ध्येय तो पहले ही ठीक कर। ध्येय सच्चा होगा तो वहां पहुँचेगा। परन्तु ध्येय ही खोटा रखोगे—रागका ध्येय रखोगे तो राग तोड़कर वीतरागता कहाँसे लाओगे ? अतः सत्यमार्ग वीतरागी सन्तोंने प्रसिद्ध किया है।

❀ ❀ ❀

सर्वज्ञताको साधते-साधते वन विहारी सन्त पद्मनन्दी मुनिराजने यह शास्त्र रचा है, आत्माकी शक्तिमें जो पूर्ण आनन्द भरा है उसकी प्रतीति करके उसमें लीन होकर बोलते थे, सिद्ध भगवानके साथ स्वानुभव द्वारा बातें करते थे और सिद्ध प्रभु जैसे अतीन्द्रिय-आनन्दका बहुत अनुभव करते थे, तब उन्होंने भव्य जीवों पर करुणा करके यह शास्त्र रचा है। उसमें कहते हैं कि अरे जीव ! सबसे पहले तू सर्वज्ञदेवको पहिचान। सर्वज्ञदेवको पहिचानते ही तेरी सच्ची जाति तुझे पहिचाननेमें आ सकेगी।

देखो! यह मनुष्यपनेकी सफलताका उपाय! जीवनमें जिसने धर्मका उल्लास नहीं किया, आत्महितके लिए रागादि नहीं घटाये और मात्र विषय-भोगके पाप भावमें ही जीवन बिताया है वह तो निष्फल अवतार गुमाकर संसारमें ही परिभ्रमण करता है। जब कि धर्मात्मा श्रावक तो आत्महितका उपाय करता है, सम्यग्दर्शन सहित व्रतादि पालन करता है और स्वर्गमें जाकर वहाँसे मनुष्य होकर मुनिपना लेकर मुक्ति प्राप्त करता है।

भाई, ऐसा उत्तम मनुष्यपना और उसमें भी धर्मात्माके संगका ऐसा योग संसारमें बहुत दुर्लभ है; महा भाग्यसे तुझे ऐसा सुयोग मिला है तो इसमें सर्वज्ञकी पहिचानकर सम्यक्त्वादि गुण प्रगट कर। और उसके पश्चात् शक्ति अनुसार व्रत अंगीकार कर, दान आदि कर। उस दानका तो बहुत प्रकारसे उपदेश दिया। वहाँ कोई कहे कि—आप दानकी तो बात करते हो, परन्तु हमें आगे-पीछेका (स्त्री-पुत्रादिका) कोई विचार करना या नहीं?—तो कहते हैं कि भाई, तू तनिक धीरज धर! जो तुझे आगे-पीछेका तेरा हितका सच्चा विचार हो तो अभी ही तू ममता घटा, वर्तमानमें स्त्री-पुत्रादिके बहाने तू ममतामें डूबा हुआ है और अपने भविष्यके हितका विचार नहीं करता। भविष्यमें मैं मर जाऊँगा तो स्त्री-पुत्रादिका क्या होगा—इस प्रकार उनका विचार करता है, परन्तु भविष्यमें तेरी आत्माका क्या होगा—इसका विचार क्यों नहीं करता? अरे, राग तोड़कर समाधि करनेका समय आया उसमें फिर आगे-पीछेका अन्य क्या विचार करना? जगतके जीवोंको संयोग-वियोग तो अपने-अपने उदय अनुसार सबको हुआ करते हैं. ये कोई तेरे किये नहीं होते। इसलिए भाई, दूसरेका नाम लेकर तू अपनी ममताको मत बढ़ा। चाहे लाखों-करोड़ों रुपयोंकी पूँजी हो परन्तु जो दान नहीं करता तो वह हृदयका गरीब है। इसकी अपेक्षा तो थोड़ी पूँजी वाला भी जो धर्म-प्रसंगमें तन-मन-धन उल्लास पूर्वक लगाता है वह उदार है, उसकी लक्ष्मी और उसका जीवन सफल है। सरकारी टेक्स (कर) आदिमें परतंत्ररूपसे देना पड़े उसे देवे परन्तु स्वयं ही धर्मके काममें होंश पूर्वक जोय खर्च न करे तो आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, तुझे तेरी लक्ष्मीका सदुपयोग करना नहीं आता; तुझे देव-गुरु-धर्मकी भक्ति करते नहीं आती और तुझे श्रावकधर्मका पालन करना नहीं आता, श्रावक तो देव गुरु-धर्मके लिये उल्लास पूर्वक दानादि करता है। एक मनुष्य कहता है कि महाराज! मुझे व्यापारमें २५ लाख रुपये मिलने वाले थे, परन्तु रुक गये, जो वे मिल जायें तो उसमेंसे ५ लाख रुपये धर्मार्थमें देनेका विचार था; इसलिये आशीर्वाद दीजिये! अरे मूर्ख? कैसा आशीर्वाद? क्या तेरे लोभ-पोषणके लिये ज्ञानी तुझे आशीर्वाद दें! ज्ञानी तो धर्मकी आराधनाका आशीर्वाद देते हैं। ५ लाख रुपये खर्च करने की बात करके वास्तवमें तो इसे २० लाख लेना है, और इसकी ममता पोषनी है। ऐसे कोई

देखो! यह मनुष्यपनेकी सफलताका उपाय! जीवनमें जिसने धर्मका उल्लास नहीं किया, आत्महितके लिए रागादि नहीं घटाये और मात्र विषय-भोगके पाप भावमें ही जीवन बिताया है वह तो निष्फल अवतार गुमाकर संसारमें ही परिभ्रमण करता है। जब कि धर्मात्मा श्रावक तो आत्महितका उपाय करता है, सम्यग्दर्शन सहित व्रतादि पालन करता है और स्वर्गमें जाकर वहाँसे मनुष्य होकर मुनिपना लेकर मुक्ति प्राप्त करता है।

भाई, ऐसा उत्तम मनुष्यपना और उसमें भी धर्मात्माके संगका ऐसा योग संसारमें बहुत दुर्लभ है; महा भाग्यसे तुझे ऐसा सुयोग मिला है तो इसमें सर्वज्ञकी पहिचानकर सम्यक्त्वादि गुण प्रगट कर। और उसके पश्चात् शक्ति अनुसार व्रत अंगीकार कर, दान आदि कर। उस दानका तो बहुत प्रकारसे उपदेश दिया। वहाँ कोई कहे कि—आप दानकी तो बात करते हो, परन्तु हमें आगे-पीछेका (स्त्री-पुत्रादिका) कोई विचार करना या नहीं?—तो कहते हैं कि भाई, तू तनिक धीरज धर! जो तुझे आगे-पीछेका तेरा हितका सच्चा विचार हो तो अभी ही तू ममता घटा, वर्तमानमें स्त्री-पुत्रादिके बहाने तू ममतामें डूबा हुआ है और अपने भविष्यके हितका विचार नहीं करता। भविष्यमें मैं मर जाऊँगा तो स्त्री-पुत्रादिका क्या होगा—इस प्रकार उनका विचार करता है, परन्तु भविष्यमें तेरी आत्माका क्या होगा—इसका विचार क्यों नहीं करता? अरे, राग तोड़कर समाधि करनेका समय आया उसमें फिर आगे-पीछेका अन्य क्या विचार करना? जगतके जीवोंको संयोग-वियोग तो अपने-अपने उदय अनुसार सबको हुआ करते हैं, ये कोई तेरे किये नहीं होते। इसलिए भाई, दूसरेका नाम लेकर तू अपनी ममताको मत बढ़ा। चाहे लाखों-करोड़ों रुपयोंकी पूँजी हो परन्तु जो दान नहीं करता तो वह हृदयका गरीब है। इसकी अपेक्षा तो थोड़ी पूँजी वाला भी जो धर्म-प्रसंगमें तन-मन-धन उल्लास पूर्वक लगाता है वह उदार है, उसकी लक्ष्मी और उसका जीवन सफल है। सरकारी टैक्स (कर) आदिमें परतंत्ररूपसे देना पड़े उसे देवे परन्तु स्वयं ही धर्मके काममें होंश पूर्वक और खर्च न करे तो आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, तुझे तेरी लक्ष्मीका सदुपयोग करना नहीं आता; तुझे देव-गुरु-धर्मकी भक्ति करते नहीं आती और तुझे श्रावकधर्मका पालन करना नहीं आता, श्रावक तो देव गुरु-धर्मके लिये उल्लास पूर्वक दानादि करता है। एक मनुष्य कहता है कि महाराज! मुझे व्यापारमें २५ लाख रुपये मिलने वाले थे, परन्तु मर गये, जो वे मिल जायें तो उसमेंसे ५ लाख रुपये धर्मार्थमें देनेका विचार था; इसलिये आशीर्वाद दीजिये! अरे मूर्ख? कैसा आशीर्वाद? क्या तेरे लोभ-पोषणके लिये ज्ञानी तुझे आशीर्वाद दें! ज्ञानी तो धर्मकी आराधनाका आशीर्वाद देते हैं। ५ लाख रुपये खर्च करने की बात करके वास्तवमें तो इसे २० लाख लेना है, और इसको ममता पोषनी है। ऐसे कोई

[२२]

स्वतन्त्रता की घोषणा

[चार बोलोंसे स्वतन्त्रताकी घोषणा करता हुआ विशेष प्रवचन]

समयसार-कलश २११] [सं० २०२२ कार्तिक शुक्ला ३-४

भगवान सर्वज्ञदेवका देखा हुआ वस्तुस्वभाव कैसा है, उसमें कर्ता-कर्मपना किस प्रकार है, वह अनेक प्रकारसे दृष्टांत और युक्ति पूर्वक पुनः पुनः समझाते हुये, उस स्वभावके निर्णयमें मोक्षमार्ग किस प्रकार आता है वह पूज्य गुरुदेवने इन प्रवचनोंमें बतलाया है। इनमें पुनः पुनः भेदज्ञान कराया है और वीतरागमार्गके रहस्यभूत स्वतंत्रताकी घोषणा करते हुए कहा है कि—सर्वज्ञदेव द्वारा कहे हुए इस परम सत्य वीतराग-विज्ञानको जो समझेगा उसका अपूर्व कल्याण होगा।

कर्ता-कर्म सम्बन्धी भेदज्ञान कराते हुये आचार्यदेव कहते हैं कि—

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥ २११ ॥

वस्तु स्वयं अपने परिणामकी कर्ता है, और अन्यके साथ उसका कर्ता-कर्मका सम्बन्ध नहीं है—इस सिद्धांतको आचार्यदेवने चार बोलोंसे स्पष्ट समझाया है:—

(१) परिणाम अर्थात् पर्याय ही कर्म है—कार्य है।

(२) परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामीके ही होते हैं, अन्यके नहीं होते। क्योंकि परिणाम अपने अपने आश्रयभूत परिणामी (द्रव्य)के आश्रयसे होते हैं। अन्यके परिणाम अन्यके आश्रयसे नहीं होते।

नहीं होता । आत्मा परिणामी है—इसके विना ज्ञानपरिणाम नहीं होता—यह सिद्धांत है ।
परन्तु वाणीके विना ज्ञान नहीं होता—यह बात सच नहीं है । शब्दोंके विना ज्ञान नहीं
होता—ऐसा नहीं, परन्तु आत्माके विना ज्ञान नहीं होता । इस प्रकार परिणामीके आश्रयसे
ही ज्ञानादि परिणाम हैं ।

देखो, यह महा सिद्धांत है, वस्तुस्वरूपका यह अबाधित नियम है ।

परिणामीके आश्रयसे ही उसके परिणाम होते हैं । जाननेवाला आत्मा वह
परिणामी है, उसके आश्रित ही ज्ञान होता है; वे ज्ञानपरिणाम आत्माके हैं, वाणीके नहीं ।
वाणीके रजकणोंके आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं होते, परन्तु ज्ञानस्वभावी आत्मवस्तुके
आश्रयसे वे परिणाम होते हैं । आत्मा त्रिकाल स्थित रहनेवाला परिणामी है, वह स्वयं
रूपांतर होकर नवीन नवीन अवस्थाओंको धारण करता है । उसके ज्ञान-आनन्द इत्यादि
जो वर्तमान भाव हैं वे उसके परिणाम हैं ।

'परिणाम' परिणामीके ही हैं अन्यके नहीं—इसमें जगतके सभी पदार्थोंका नियम
आ जाता है । परिणाम परिणामीके ही आश्रित होते हैं, अन्यके आश्रित नहीं होते ।
ज्ञानपरिणाम आत्माके आश्रित हैं, भाषा आदि अन्यके आश्रित ज्ञानके परिणाम नहीं हैं ।
इसलिये इसमें परकी ओर देखना नहीं रहता; परन्तु अपनी वस्तुके सामने देखकर
स्वसन्मुख परिणमन करना रहता है; उसमें मोक्षमार्ग आ जाता है ।

वाणी तो अनन्त जड़ परमाणुओंकी अवस्था है, वह अपने परमाणुओंके आश्रित है ।
बोलनेकी जो इच्छा हुई उसके आश्रित भाषाके परिणाम नहीं प्रगटे नहीं है । जब इच्छा
हुई और भाषा निकली उस समय उसका जो ज्ञान हुआ, वह ज्ञान आत्माके आश्रयसे
हुआ है । भाषाके आश्रयसे तथा इच्छाके आश्रयसे ज्ञान नहीं हुआ है ।

परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामीके ही होते हैं, अन्यके आश्रयसे नहीं होते,
—इस प्रकार अस्ति-नास्तिसे अनेकान्त द्वारा वस्तुस्वरूप समझाया है । सन्तोंके सिद्धांतकी
अर्थात् वस्तु स्वरूप यह बात है, उसको पहिचाने बिना मूढ़ता पूर्वक अज्ञानतासे
ही जीवन पूर्ण कर डालता है । परन्तु भाई ! आत्मा क्या ? जड़ क्या ? इसको जिसका
समझकर वस्तुस्वरूपके वास्तविक स्वरूपको समझे बिना ज्ञानमें सच्चापन नहीं आता, अर्थात्
सम्यग्ज्ञान नहीं होता, वस्तुस्वरूपके सच्चे ज्ञानके बिना रुचि और श्रद्धा भी नहीं होती,
और सच्ची श्रद्धाके बिना वस्तुमें स्थिरतारूप चारित्र प्रगट नहीं होता, चारित्र नहीं होनेसे
समाधान और सुख नहीं होता । इसलिये वस्तुस्वरूप क्या है उसे प्रथम समझना चाहिये ।

जगतमें जो भी कार्य होते हैं वह सत्की अवस्था होती है, किसी वस्तुके परिणाम होते हैं, परन्तु वस्तुके बिना अधरसे परिणाम नहीं होते। परिणामीका परिणाम होता है, नित्य स्थित वस्तुके आश्रित परिणाम होते हैं, परके आश्रित नहीं होते।

परमाणुमें होंठोंका हिलना और भाषाका परिणमन—यह दोनों भी भिन्न वस्तु हैं। आत्मामें इच्छा और ज्ञान—यह दोनों परिणाम भी भिन्न-भिन्न हैं।

होंठ हिलनेके आश्रित भाषाकी पर्याय नहीं है। होंठका हिलना वह होंठके पुद्गलोंके आश्रित है, भाषाका परिणमन वह भाषाके पुद्गलोंके आश्रित है।

होंठ और भाषा, इच्छा और ज्ञान

—इन चारोंका काल एक होनेपर भी चारों परिणाम अलग हैं।

उसमें भी इच्छा और ज्ञान—यह दोनों परिणाम आत्माश्रित होनेपर भी इच्छा-परिणामके आश्रित ज्ञानपरिणाम नहीं है। ज्ञान वह आत्माका परिणाम है, इच्छाका नहीं; इसी प्रकार इच्छा वह आत्माका परिणाम है, ज्ञानका नहीं। इच्छाको जाननेवाला ज्ञान वह इच्छाका कार्य नहीं है, उसी प्रकार वह ज्ञान इच्छाको उत्पन्न नहीं करता इच्छा-परिणाम आत्माका कार्य अवश्य है परन्तु ज्ञानका कार्य नहीं। भिन्न भिन्न गुणके परिणाम भिन्न भिन्न हैं, एक ही द्रव्यमें होने पर भी एक गुणके आश्रित दूसरे गुणके परिणाम नहीं हैं।

कितनी स्वतंत्रता !! और इसमें परके आश्रयकी तो बात ही कहाँ रही ?

आत्मामें चारित्रगुण इत्यादि अनन्तगुण हैं, उनमें चारित्रके विकार परिणाम जो इच्छा है, वह चारित्रगुणके आश्रित है, और उस समय इच्छाका ज्ञान हुआ वह ज्ञानगुणरूप परिणामोंके परिणाम हैं, वह कहीं इच्छाके परिणामके आश्रित नहीं है। इस-प्रकार इच्छा परिणाम और ज्ञान परिणाम दोनोंका भिन्न परिणमन है, एक-दूसरेके आश्रित नहीं हैं।

सत् जैसा है उसी प्रकार उसका ज्ञान करे तो सत् ज्ञान हो और सत्का ज्ञान करे तो उसका बहुमान एवं यथार्थता आदर प्रगट हो, रुचि हो, श्रद्धा दृढ़ हो और उसमें स्थिरता हो, उसे धर्म कहा जाता है। उससे विपरीत ज्ञान करे उसे धर्म नहीं होगा। स्वमें स्थिरता ही मूल धर्म है, परन्तु वस्तुस्वरूपके सच्चे ज्ञान बिना स्थिरता कहाँ करेगा ?